

**TEXT CROSS
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186532

UNIVERSAL
LIBRARY

जीवन

प्रदीप

- हरिकृष्णदास अग्रवाल



अग्रवालजी के कुछ संग्रहणीय ग्रन्थ

१. मुमुक्षु (उपन्यास) : द्वितीय संस्करण	५-००
२. सजगता (सशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)	२-००
३. खेती और परमात्मा	८-००
४. जीवन-दक्षता	८-००
५. श्मशान यात्रा (सशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)	१-००
६. धर्म-निरपेक्ष धर्म	५-००
७. खेल-कूद में वेदान्त	२-००
८. विज्ञान और अध्यात्म	४-००
९. बात बात में बात (उपन्यास)	३-००
१०. साधना शिविर	३-००



माता
पिता
और
गुरु
की स्मृति में

प्रकाशक :

तुलसी मानस प्रकाशन
गुप्ता मिल्स इस्टेट
रे रोड, बम्बई ४०० ०१०

मूल्य :

आठ रुपये मात्र

मुद्रक :

क. ला. मुनोत, एम. ए.
प्रभात प्रिंटिंग वर्क्स
४२७, गुलटेकडी, पूना ४११ ००९

पुस्तक की बात

जीवन एक पहेली है। जो इस पहेली को सुलझा कर जीवन के मर्म को समझ लेता है और असत्य से सत्य की ओर—अंधकार से प्रकाश की ओर—चलने का व्रत लेता है, वही जीवन को सार्थक करता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को हम 'जीवन-निर्माण' की मजा दे सकते हैं।

प्रदीप प्रज्ज्वलित होता है तो प्रकाश देता है। प्रकाश का गुण है अपने चारों ओर के अंधकार को दूर करना, जो सामने आये उसे प्रकाशित करना। इसीलिये दीपक की तुलना जीवन से की जाती है। जीवन दीपक की तरह स्वयं प्रकाशित हो एवं अपने चारों ओर के वातावरण को अपने प्रकाश से प्रकाशित करे। जीवन-दीप का यह प्रकाश ज्ञान के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? हम अपने इस ज्ञान के प्रकाश से अपने चारों ओर के जीवन को जाने। विवेक बुद्धि में इस नश्वर संसार की भ्रामकता का आवरण हटा कर परम पिता के दर्शन कर सके, उसी में इस जीवन-प्रदीप की सार्थकता है।

पुस्तक में जीवन में सम्बन्धित छोटी-छोटी घटनाओं को ले कर चर्चा की गयी है। हमारे जीवन में और हमारे आसपास प्रायः नित्य ही कोई-न-कोई घटना घटती रहती है, किन्तु हम अपनी व्यस्तता के कारण इन घटनाओं को अनदेखा कर जाते हैं, जिसके फलस्वरूप इनसे हम कुछ सीख पाने में वंचित रह जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम जिज्ञासु नहीं हैं—इन घटनाओं से कुछ सीखने की इच्छा नहीं रखते। घटनाओं के रूप में जीवन से जुड़े इन कटु-मधु रिश्तों के प्रति हमारी रुचि किस प्रकार जगे ? हम इनसे क्या शिक्षाएँ ग्रहण कर सकते हैं ?

मानव-जीवन के स्वरूप की विवेचना, यथार्थ सुख-दुख की व्याख्या, तनाव से मुक्ति, मन की वृत्तियों का अवलोकन, आधारभूत जीवन-मूल्यों की

समीक्षा इत्यादि के प्रति सहज दृष्टि प्रदान करने की चेष्टा के साथ ही इच्छा और संकल्प, प्रेम और मोह, अपनापन और परायापन का भाव, श्रेय तथा प्रेय, संकल्प-शक्ति और लक्ष्य-प्राप्ति का मार्ग, भक्ति और ज्ञान, अहं-कार और अंधकार, छाया और माया, प्रेम और व्यवहार, मनुष्य की शक्ति और आत्मज्योति-इत्यादि अनेक विषयों का दार्शनिक दृष्टि से मनुष्य की सीमाओं एवं संभावनाओं के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक अध्ययन किया गया है ।

मानव-जीवन में आनेवाली समस्याएं और असफलताएं मनुष्य के लिये चुनौतियों के समान होती हैं। किस प्रकार इन चुनौतियों का सामना करते हुए हम अपने में नव-जीवन का संचार करें, जीवन के प्रबलतम शत्रु चिन्ता से मुक्त हो कर आत्मविश्वास को प्राप्त करें और अपनी क्षमताओं एवं योग्यताओं को बढ़ाकर अपने जीवन को सत्यम् शिवम् और सुंदरम् से अलंकृत करें तथा कैसे संसार में रह कर संसार का आनन्द प्राप्त करते हुए मोक्षकामी बनें—इन सब बातों का विवेचन पुस्तक में किया गया है ।

इस पुस्तक को पढ़कर किसी को जाग्रत जीवन की प्रेरणा मिलती है तो इसका श्रेय हमारे गुरुदेव ब्रह्मलीन वेदान्त केसरी स्वामी निर्मलजी को होगा जिनके प्रसादरूप में मुझे जीवनोपयोगी रहस्यमय संकेत प्राप्त करने का सौभाग्य हुआ ।

अनुक्रम

खण्ड : १ : जन्म और जीवन

१. नम्रता, सेवा और प्रेम १३
२. सच्चा जीवन आत्मोन्नति का साधन १७
३. जीवन के भाव १९
४. कुलटा बुद्धि २१
५. कर्मों में असंगता २३
६. सजगता २५
७. मैं क्या हूँ ? २८
८. श्रेय तथा प्रेय का मार्ग ३०
९. संकल्प शक्ति और लक्ष्यप्राप्ति का मार्ग ३२
१०. दर्शन और जीवन-दर्शन ३४
११. जीवन-कला ३८
१२. मिथ्यात्व का भान ४०
१३. तटस्थ दर्शन ४२
१४. तत्व का अन्वेषण ४४
१५. देहभाव की निवृत्ति ४७
१६. भक्ति और ज्ञान ५०
१७. निर्भय जीवन-यात्रा ५२
१८. संशयात्मा विनश्यति ५६
१९. अंतरात्मा संसारी नहीं ५८
२०. चिद्-जड़-ग्रन्थि ६०

खण्ड : २ : अहंकृति

१. क्रोध - पिशाच ६५
२. प्राणी और अहंभाव ७०
३. अहंकार और अंधकार ७२
४. जिमि कुपंथ पग ७५
५. अहंकृति की परिच्छिन्नता ७८

खण्ड : ३ : कामना

१. भोग का रोग और राग की आग ८३
२. मोह का डंक ८५
३. अतृप्त कामनाएं ८८
४. जो देता सो पाता ९०
५. असंतोष का जन्म ९२
६. मानव - हृदय : रीते का रीता ९४
७. छाया और माया ९६
८. विषयसुख - मृगतृष्णा ९८
९. मर्ज बढ़ता गया ज्यों - ज्यों दवा की १००

खण्ड : ४ : कालचक्र

१. अखंड काल १०५
२. कालचक्र ११०
३. काल की चेतावनियाँ ११४
४. भावी यात्रा का पाथेय ११६
५. वृद्ध की काया जवानी की छाया ११८
६. मनुष्य का असली बीमा १२०

खण्ड : ५ : संत और मनीषी

१. एक संत से भेंट १२५
२. महात्मा का तन्त्र १२९
३. संत - महात्मा : सुगंधित फूल १३३
४. साधु का उपदेश १३५
५. महात्मा : सत्य संकल्प १३७
६. निष्काम सेवा १३९

खण्ड : ६ प्रेम

१. सच्चा सौन्दर्य और वास्तविक प्रेम १४३

२. प्रेम और मोह १४७
३. प्रेम और व्यवहार १४९
४. प्रेम-नदी के तीरा १५३
५. प्रेम-समाधि १५८
६. व्यापक प्रेम-तत्त्व १६०
७. मजनू का प्यार १६३
८. नवनीत आत्मा १६५

खण्ड : ७ : मन-मन्दिर

१. हमारे भीतर उमकी आवाज १६९
२. मन की गाठ १७१
३. पागलपन का होश १७४
४. मन की शान्ति १७६
५. सुख का माधन एक १७९
६. मैं तो तेरे पास में १८१
७. तेरे द्वार खड़ा भगव न १८३
८. मनोनाश १८८
९. मन उजियारा तो जग उजियारा १९०
१०. मन की चाल १९३
११. श्रद्धा या वाच्यविलास १९६
१२. आत्मीय भावना १९८
१३. मन-मन्दिर २०१
१४. मन की धूल २०३
१५. समाहित मन २०५
१६. शान्त मन में आत्मानन्द २०९

खण्ड : ८ : आत्मज्योति

१. रज्जु-सर्प-भ्रान्ति २१३
२. परम पुरुष का मौन व्याख्यान २१६

३. स्वप्रकाश आत्मा २१८
४. ज्ञानस्वरूप आत्मा २२०
५. मनुष्य की शक्ति और आत्मज्योति २२३
६. शुद्धि और आत्मदर्शन २२५
७. आत्मज्योति २२७
८. सब का प्रेरक आत्मा २३१
९. यह हमारी आत्मा नहीं २३४
१०. स्रोत से मिलन २३५
११. ज्योतियो की ज्योति २३८



खण्ड एक

जन्म और जीवन

प्रारभ्यते न खलु विघ्नमयेन नीचैः

प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

विघ्न पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः ।

प्रारब्धमुक्तमजना न परित्यजन्ति ॥

(भर्तृहरि : नीतिशतक - २७)

- नीच कोटि के मनुष्य विघ्नों के भय से कार्य प्रारंभ ही नहीं करते । मध्य कोटि के लोग प्रारंभ तो करते हैं, पर विघ्नों की चपेट में आ कर बीच में कार्य छोड़ बैठते हैं, किन्तु उत्तम कोटि के पुरुष विघ्नों द्वारा बार-बार बाधित किये जाने पर भी प्रारंभ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते ●

नम्रता, सेवा और प्रेम

भले ही भगवान ने मनुष्य को जीवन दिया हो पर जीवन को सुधारा मनुष्य ने अपने आप ही। जन्म देते समय ईश्वर ने मानव से कहा कि 'तू नम'। यह कहने का सर्वेश का आशय यह था कि मन का स्वभाव नीचे की ओर—विषयों पर जाता है, उसे उलटा कर। मन को उलटाये बिना वह नम नहीं हो सकता। जो नमता है वह तत्त्व की प्राप्ति कर सकता है। सच्ची नम्रता आये बिना तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। वही नम सकता है जो अहंकाररहित होता है। जो अहंकाररहित होता है, वही सेवा भी कर सकता है। जहां अहंकार होता है, वहां सेवा नहीं हो सकती। अहंकार की निवृत्ति के लिए सेवा परमोपयोगी है। सेवा से नम्रतापूर्वक प्रेम का विकास होता है। प्रेम से आत्मा का विकास होता है क्योंकि प्रेम आत्मा का परम तत्त्व है। प्रेम भी वहीं होगा, जहाँ पर आत्मीयता होगी। इस कारण मनुष्य जन्म को सार्थक करने के लिए शरीर से सेवा, स्वभाव में नम्रता और मन में प्रेम होना परमावश्यक है।

आत्मीयता

‘मन’ का उलटा ‘नम’ शब्द बनता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि यदि तू मन पर अधिकार चाहता है तो तू नम-नमन कर, नम्रता अपना।

अहंकार को मिटानेवाली नम्रता जब हृदय में सेवा की भावना उत्पन्न करती है तब सेवाभावी व्यक्ति के मन में आत्मीयता का उदय होता है। आत्मीयता अखण्ड प्रेम की जननी है। प्रेम स्वतः ही आत्म-स्वरूप एवं आत्म भाव से बंधा हुआ है। सत्य प्रेम आत्म-भावना के बिना कभी नहीं होता। सत्य प्रेम निरंतर नमन का ही एक व्यावहारिक स्वरूप है।

अपने उद्गम की ओर

ज्योति का उद्गम स्थान है सूर्य। हर एक ज्योति का स्वभाव ही ऐसा बना है कि अपने उद्गम स्थान को पहुंचना चाहती है। यही कारण है कि अग्नि की लौ ऊपर उठती है, क्योंकि इसका मूल स्रोत सूर्य ऊपर है। मोमवत्ती को उल्टा कर देने पर भी उसकी लौ ऊपर को ही जाती है, क्योंकि उसका मूल ऊपर होने के कारण वह स्वभाव से ही ऊपर को जलती हुई मिल जाना चाहती है। इस प्रकार हर एक ज्योति का स्वाभाविक आकर्षण ऊपर को ही होता है।

जीव का कारण ब्रह्म

पानी का स्रोत है समुद्र। इसी कारण सभी नदी-नाले समुद्र की ओर ही दौड़ रहे हैं। यह कभी नहीं होता कि पानी निम्न धरा-तलोन्मुखता का त्याग कर दे। वह समुद्र की राह ही खोजता है।

किसी ढेले को आप ऊपर फेंकते हैं तो वह नीचे धरती की ओर ही आता है। ऊपर नहीं जाता, क्योंकि उसका उद्गम नीचे है। इसी प्रकार जीव का कारण है ब्रह्म। ब्रह्म ही आनंद व सुखस्वरूप है। अतः जाने-अनजाने सभी मनुष्य उसी चिर सुख की प्राप्ति की ओर दौड़ रहे हैं। संत कहा करते हैं— “मेरो मन अनत कहा सुख पावै ?” सारे सुख आत्मा में ही हैं, विभिन्न निमित्तों से वे आत्मा से ही मिलते हैं।

नास्तिक वह है जो कि ईश्वर को नहीं मानता, पर सुखी वह भी होना चाहता है। दुःखी होना वह भी नहीं चाहता। वही क्यों? कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। जिस प्रकार मोमवत्ती को उलट देने पर भी उसकी लौ ऊपर को ही जाती है उसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म से बना जगत अपने मूल सच्चिदानन्द ‘ब्रह्म’ की ही ज्ञान से अथवा अज्ञान से टोह लगाता रहता है। वहीं उसे सच्ची शान्ति मिल मिलती है।

अनमोल तन

एक मनुष्य ने किसी को खाने के लिए अखरोट देकर कहा कि ये दांत के नीचे रखते ही टूट जाते हैं। उसने कहा—“न भाई ! मैं अखरोट को अपने दांतों के नीचे रखकर नहीं तोड़ूंगा। क्योंकि मेरे दांत तो कीमती हैं। आपको अपने दांतों से अखरोट तोड़ना हो तो भले ही आप तोड़ें, क्योंकि आपने दांतों के लिए कीमत नहीं दी है।” यह कहकर उस समझदार आदमी ने अपने दांतों से अखरोट नहीं तोड़े, क्योंकि ऐसा करने से उसके दांतों को जो कि उसने पैसे खर्च करके लगवाये थे, नुकसान हो सकता था। जिस प्रकार हम अपनी कीमती वस्तुओं की हिफाजत करते

हैं, उसी प्रकार ईश्वर ने हमें जो अनमोल चीजें दी हैं, उनकी कद्र हमें अवश्य करनी चाहिये। पर दुःख है कि हम ऐसा नहीं करते। हमारी इंद्रियां ईश्वर की दी हुई अनमोल वस्तुएँ हैं। भला आंखों के लिए हमने क्या कीमत चुकायी है ? भगवान ने हमें ये इंद्रियां यूँ ही दी हैं। फिर भी ये इतनी कीमती हैं। विश्व की दौलत के बदले भी हम इन्हें गँवाना पसन्द नहीं करेंगे। उस देने वाले दयालु ने हमें जो कुछ बहुमूल्य वस्तुएँ दी हैं, उनकी कीमत कोई नहीं चुका सकता।

प्रथम सोपान

हम छोटी-छोटी वस्तुओं को कीमती मानते हैं, पर इस अमूल्य शरीर की कीमत को नहीं समझते। अगर हम सही मापने में उसकी कीमत समझ लें तो पता चलेगा कि शरीर कितनी अनमोल रत्नराशि है ! स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का प्रथम सोपान यही है, जिससे हम ऊपर उठ सकते हैं। इसीलिये कहा है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

मनुष्य को महापुरुषों ने सदा समझाया है कि नर-देह अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य चाहे तो यही देह भवसागर के तरने के लिए नौका हो सकती है। इससे सदा-सर्वदा के लिए जन्म-मरण के कष्ट को पार किया जा सकता है। जिन्होंने इस भगवद्दया का सच्चा मतलब समझा, वे इस शरीर से भवसागर पार हो गये। अतः शरीर की कीमत और इसका सच्चा उपयोग समझना आवश्यक है।

सच्चा जीवन आत्मोन्नति का साधन

सच्चा जीवन और ऊंचा लक्ष्य ही आत्मोन्नति का एकमात्र साधन है। मनुष्य का लक्ष्य हो ऊंचा और नियत साफ हो तो फिर आत्म-प्राप्ति में कोई रुकावट खड़ी नहीं हो सकती। मनुष्य का लक्ष्य तो है ऊंचा किन्तु नीयत साफ नहीं, न साधन ही ठीक है, तो लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी। उदाहरण के लिये, मनुष्य का लक्ष्य हो करोड़पति बनने का, किन्तु वह बेच रहा है बाजार में भुने हुए चने, तो वह करोड़पति का लक्ष्य रखते हुए भी साधनहीन होने के कारण करोड़पति नहीं बन सकता। उसे करोड़पति बनने के लिए समयानुकूल उच्च साधन अपनाने होंगे। एक मनुष्य का साधन तो है उत्तम, परन्तु उसका लक्ष्य कुछ नहीं, तो वह भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर पाता। हरिद्वार में मुझे एक सुन्दर व स्वस्थ किशोर मिला, जिसे गीता कंठस्थ थी। वह श्लोकों का बहुत ही शुद्ध उच्चारण करता हुआ गीता-पाठ कर रहा था।

साधन बिना साध्य कैसा ?

मैंने उससे पूछा कि यह सब पढ़कर तुम क्या करोगे ?

उसने बताया, “ में बाबू बनूंगा । ”

अर्थात् क्लर्क बनूंगा । इस लड़के के पास साधन तो उत्तम था किन्तु उत्तम लक्ष्य होने के कारण यह बालक गीताध्ययन का मुख्य फल—ज्ञान-प्राप्त करने में असमर्थ था । आत्म प्राप्ति के लिए लक्ष्य का ऊंचा होना और नीयत का साफ होना—ये दो धन परम आवश्यक हैं । नीयत साफ नहीं तो लक्ष्य का ऊंचा होना भी एक आडंबर मात्र ही हो जायेगा । लोक-दिखावा होगा और अहंकार की वृत्ति उत्पन्न करेगा ।

साधन बिना साध्य कैसा ? और साध्य के ही अनुकूल साधन भी न हो तो लक्ष्य बेईमानी छिपाने का काम ही देगा, सारे व्यवहार में सच्चाई का वर्ताव हो तभी व्यक्ति सत्यस्वरूप आत्मा को पा सकेगा । ऐसा ही जीवन आत्मोन्नति का साधन होगा ।

जीवन के भाव

एक कारखाने में तीन मजदूर काम कर रहे थे। उनसे किसी ने पूछा, “क्या कर रहे हो?” एक बोला— “दिन काट रहा हूँ।” उसने गलत नहीं कहा था किन्तु उसके कथन में वेदना थी। वह इस कथन के मिस अपने दुःख की आहें भर रहा था। आहें भर रहा था क्योंकि जिसे जीवन कहते हैं, वह उससे कोसों दूर चला गया था।

दूसरे से पूछा तो वह बोला— “रोजी कमा रहा हूँ।”

यह व्यक्ति दुःखी नहीं दीख रहा था, क्योंकि ये शब्द दुःखी के नहीं हो सकते। ऐसा कोई भी सामान्य गृहस्थ बोल सकता है। अतः यह सामान्य स्थिति का गृहस्थ था और अपने बाल-बच्चों को पालने के लिए नित्यप्रति आजीविका कमाने के लिए काम करता था। इसे काम इतना बोझ नहीं प्रतीत होता था जितना कि पहले वाले मजदूर को। किन्तु इसमें भी कर्म की झलक नहीं थी, रोजी कमाने की ही बात का महत्त्व था।

तीसरे से जब मैंने वही प्रश्न पूछा तो उस समय वह गुनगुनाता हुआ गीत गा रहा था। उसने गुनगुनाना रोक कर कहा कि “मैं देश लिए उत्पादन कर रहा हूँ।”

इस तीसरे मजदूर के उत्तर में हृदय की प्रसन्नता, आंखों में चमक और शरीर में स्फूर्ति थी। तीनों मजदूर एक तरह का काम करते हुए भी अपने-अपने संकल्प के कारण तीन तरह का जीवन व्यतीत कर रहे थे। एक अधम, दूसरा मध्यम और तीसरा उत्तम।

एक ही काम जो भावना विशेष के कारण जीवन को भार बना देता, भावना के बदल देने पर जीवन भार रूप न रहकर सार रूप हो जाता है। काम नहीं बदला, भावना बदल गयी और साथ-साथ जीवन बदल गया। अतः उत्तम जीवन बनाने के लिए मनुष्य के भाव बदलने चाहिये। भाव के बदलने पर मनुष्य आप ही आप बदल जाता है। वह उत्तम भावों से उत्तम और अधम भावों से अधम हो जाता है।

योगकार कहते हैं कि “सत्य की प्रतिष्ठा में सारे प्रयत्न स्वयं ही सत्यवादी का उपस्थान करते हैं।”

सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और सम्यक ज्ञान—ये चार चीजें आत्मा या ऊंचे लक्ष्य की साधक हैं। इनके बिना आत्मसिद्धि नहीं होती।

मिथ्या भावनाएँ झूठ की ओर ही ले जायेंगी, सत्य की ओर नहीं। हां, जब ‘सत्य-ब्रह्म’ की भावना बढ़ते-बढ़ते असत्य से हटकर सत्य पर पूर्ण दृढ़ हो जायेगी तो सारे आडम्बर स्वयं छूट जायेंगे। मानव सत्य-पथ पर सत्य-ब्रह्म की ओर चलेगा।

कुलटा बुद्धि

एक सरल हृदय के सीधे-सादे मनुष्य का किसी कुलटा स्त्री के साथ प्रेम हो गया, उसने उससे शादी भी कर ली । तीन मास के बाद ही उनको एक लड़का हो गया । वह मनुष्य जहां जाता वहीं लोग उसे ताने मारते हुए कहते— सारे संसार में तो नौ मास में बच्चा होता है, पर बता तुझे कैसे तीन ही महीने में बच्चा हो गया । इस सीधे-सादे निष्कपट व्यक्ति से कोई भी उत्तर देते न बनता ।

आखिर तंग होकर इस व्यक्ति ने यह लोकचर्चा एक बार अपनी स्त्री को सुना दी । उस स्त्री ने अपने पति से कहा कि तुम हिसाब जानते हो या नहीं ? ऐसे ही लोगों की बातों में आ जाते हो ? देखो मैं तुमको पूरा हिसाब करके बता देती हूं । तब उसने पूछा, “ तुम्हारी शादी को कितने महीने हुए हैं ? ”

पति ने कहा, “ तीन महीने । ”

“ और मेरी शादी को कितने महीने हुए हैं ? ” पत्नी ने फिर पूछा ।

पति ने कहा, “ तीन महीने । ”

—“ तीन और तीन कितने होते हैं ? ”

पति ने कहा, “ छह । ”

—“ और बच्चा कितने महीने का हो गया है ? ”

पति ने कहा, “ तीन महीने का । ”

—“ तब छः और तीन कितने होते हैं ? ”

पति ने उत्तर दिया कि नौ होते हैं ?

—“ तो आखिर पूरे नौ महीने तो हो गये न ? हिसाब मिल गया न ? लोग बेवकूफ हैं जो उनको हिसाब नहीं आता । नहीं तो पूरे नौ मास हो जाते हैं । ”

इस प्रकार उस कुलटा स्त्री ने उसको समझा दिया । कुलटा स्त्री की ही तरह मनुष्य की बुद्धि है जो मनुष्य को भ्रमीभूत किये हुए है । वह कहती है कि जीवन अलग है । जीव से जगत अलग है और इन दोनों से जगदीश्वर अलग है । इन तीनों की सत्ता परस्पर भिन्न-भिन्न है । महान् पुरुष कहते हैं कि जीव, जगत और जगदीश—ये तीनों ब्रह्मस्वरूप ही हैं । ब्रह्म के अतिरिक्त कही कुछ नहीं है । किन्तु द्वैत-त्रैत मानने वाले कहते हैं कि नहीं, यह सब भिन्न-भिन्न हैं । जिस तरह तीन महीने के बच्चे को अपनी शादी और पति की शादी और बच्चे की आयु को उस कुलटा स्त्री ने भिन्न-भिन्न बताकर उस सीधे-सादे पति को बहका दिया उसी प्रकार अध्यात्म में ठीक उलटा भ्रम घटित होता है । द्वैत और त्रैत के मानने वाले एक को भिन्न-भिन्न दिखाते हैं । जगत में जीव और जगदीश्वर के एक होते हुए भी वे उन्हें भिन्न-भिन्न बताते हैं । यह मानव की बुद्धि का ही चमत्कार है कि वह एक को भी अपने सम्पर्क से अनेक करके दिखला रही है । ”

कर्मों में असंगता

कर्म करने का कौशल भी किसी-किसी को ही प्राप्त होता है, क्योंकि हर एक काम के करने में कुछ-न-कुछ कुशलता अवश्य होती है। इसी से ठीक प्रकार से काम हो सकता है। माताएं जब कटहल काटती हैं तो काटने से पहले हाथों में थोड़ा-सा तेल लगा लेती हैं, जिससे कटहल का रस उनके हाथों में चिपकता नहीं। इसी प्रकार जो लोग निरासक्ति रूपी तेल लगाकर संसार का व्यवहार करते हैं वे संसार में आसक्त नहीं होते। संसार उनसे चिपकता नहीं। वे संसार में रहते हुए भी प्रसन्नमना होकर संसार के कार्य भी करते हैं और अपने परम लक्ष्य को भी नहीं भूलते।

माताएं खीलते हुए गर्म पतिले को जब चूल्हे से नीचे उतारती हैं, तो संडसी का उपयोग करती हैं, जिससे उनके हाथ नहीं जलते। इसी प्रकार संसारी लोग असंग होकर कुशलता पूर्वक कर्म करते रहते हैं, जिससे उन्हें कर्म बन्धन नहीं होता। काम बिगड़ जाने पर भी उनके मन में क्षोभ नहीं होता।

हर्ष-विषाद नहीं

मैंने देखा है कि एक नर्स रात भर रोगी की सेवा करती रहती

है। वह एक मिनट भी नहीं सोती एवं इतनी सेवा करती है कि शायद घरवाले भी न कर सकें। किन्तु उस मरीज की किसी कारणवश मृत्यु हो जाती है तो वह बिलकुल क्षुब्ध नहीं होती। तत्काल अपना बैग उठाकर घर चल देती है। यही बात एक मुनीम की भी है। मुनीम भी मालिक के लिए लाखों रुपयों का कार्य व्यवहार करता है, किन्तु वह अपना समझकर नहीं करता, अपने मालिक का समझकर ही करता है जिससे नफे-नुकसान में किसी प्रकार का भी हर्ष-विषाद नहीं होता। इसी प्रकार जो व्यक्ति सब कार्य-व्यवहार प्रभु परमात्मा का समझकर करता है वह हर्ष-विषाद से मुक्त हो जाता है।

सम्यक् दृष्टि

कर्म करते हुए भी मनुष्य की सम्यक् दृष्टि बनी रहे। वह विपरीत परिस्थितियों में भी विषमता को प्राप्त न हो। यह बात निष्काम कर्म की भावना रखकर कर्म करने पर ही बन सकती है। यद्यपि कर्म का स्वभाव ही फल देने का है पर निष्काम-भाव मन को शान्त भी रखता रहता है। अनुत्तीर्णता का दुःख नहीं होने देता। मोक्षभागी शरीर निष्काम कर्मों से ही प्राप्त होता है। चाहे सकाम भाव से कर्म करो अथवा निष्काम भाव से, पर अपने-अपने ढंग का फल अवश्य देते हैं। कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाते।

सजगता

मनुष्य को हर एक काम करने में सजग और सावधान रहना चाहिये। वह सजगता के साथ सोचे, सजगता से देखे और चले। मनुष्य अगर सजगता से नहीं चलता तो उसे पद-पद पर गिरने का भय रहता है।

बहिर्मुख-अन्तर्मुख

बहुत से मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखते, होश रखते हुए भी होश में नहीं हैं। उनकी मूढ़ अवस्था है। भैंस या बकरी की तरह जो सामने आया मुंह मार दिया, सारा दिन चरते-खाते रहे। मूढ़ता में बैठे रहे। कुछ विचारधारा नहीं, कुछ विवेक नहीं। जब उनमें काम की वृत्ति उठती है तो उसकी पूर्ति करने लगते हैं। जब खाने का मन हुआ तो खा लिया। जैसा मन ने कहा कर लिया। मन ने कहा सिनेमा चलो, तो सिनेमा चल दिये। मन ने कहा कि गप्पें हाँको तो गप्पें हाँकते रह गये। इस प्रकार के व्यवहार के लोग मनमुखी कहलाते हैं—जिसको शास्त्रों में 'पामर' कहा गया है। सत्संग में उनकी रुचि नहीं, वे सेवा कार्य नहीं करते। हमेशा स्वार्थ सिद्धि में लगे रहते हैं। अन्धा वह नहीं

जिसे देखता नहीं - अन्धा तो वह है जो देखते हुए भी नहीं देखता। संसार में दो ही वस्तुएँ हैं : दृश्य-बहिर्मुखता और द्रष्टा अन्तर्मुखता।

मूढ़ दशा

जब मनुष्य दृश्य को देखता है तो उसका ध्यान रूप, रंग, माप, तौल, परिमाण, डिजाइन इत्यादि की ओर जाता है। तभी मनुष्य की वृत्ति बहिर्मुख हो जाती है। वह बाहर के फूल को तो देखता है किन्तु जो देखता है उसे नहीं देखता। यही मूढ़ दशा है, इसी का नाम अज्ञान है। जैसे, क्रोध प्रायः सभी मनुष्यों को आता है। एक तो वे हैं, जिन्हें क्रोध आता है और वे क्रोध के इतने वशीभूत हो जाते हैं कि अपने आपको भूल जाते हैं। मैं कौन हूँ और सामने खड़ा प्राणी कौन है, हम दोनों के सम्बन्ध क्या हैं? यहाँ तक कि पूज्य माता-पिता या गुरु का भी कभी-कभी अपमान कर बैठते हैं। जो सजग नहीं रहते उन्हें पता नहीं चलता कि क्रोध कब आया, कैसे आया? फिर तो क्रोध उनके ऊपर हावी हो जाता है। मनुष्य क्रोध के वशीभूत होकर निन्दनीय व भयंकर दोषपूर्ण कार्य कर बैठता है। क्रोधावस्था में विवेक नहीं रहता, भले-बुरे की पहचान नहीं रहती और जीव क्रोध के आवेश में ऐसे कार्य कर बैठता है जिसके लिए उसे पछताना पड़ता है।

संकल्प - विकल्प

दूसरे प्राणी वे हैं जो कुछ विचार रखते हैं, कुछ सोचते हैं। जो मन में आया वे तत्काल नहीं कर बैठते। पहले वे विचार करते हैं तब उसे व्यवस्थित रूप से करते हैं। किन्तु जो दृढ़निश्चयी नहीं

हो पाते और कभी सोचते हैं 'करो' और कभी सोचते हैं 'न करो', ऐसे मनुष्यों को अगर कभी क्रोध आता है तो उनको पता तो चल जाता है कि क्रोध आया किन्तु वे क्रोध को रोक नहीं पाते। ऐसे मनुष्य के अन्दर विचारों का संघर्ष चलता रहता है।

विवेक - प्रधान

तीसरे वे व्यक्ति हैं जो विवेक प्रधान हैं। विवेक एक ज्योति है, जिसके सहारे मनुष्य संसाररूपी जंगल के अन्दर निर्भीक होकर घूम सकता है। हर काम करते समय हमारा विवेक हमें बताता है कि यह काम करने योग्य है एवं इसके करने का सही तरीका क्या है? शुचि और अशुचि क्या है? सत् और असत् क्या है? विवेकप्रधान मनुष्य को अगर कभी क्रोध आता है तो उसे फौरन पता चल जाता है कि क्रोध आ गया। जब उसे पता चल जाता है तो वह सावधान हो जाता है। विवेक द्वारा क्रोध को अपने अधीन कर लेता है। वह स्वयं क्रोध के अधीन नहीं होता है।

ज्ञानी

चौथी अवस्था ज्ञानी की है जिसको क्रोध आता ही नहीं बल्कि वह तो आवश्यकता पड़ने पर क्रोध को आमन्त्रित करके बुलाता है, कि अब तुम्हारी आवश्यकता है, और आवश्यकता पूरी हो जाने पर क्रोध को लौटा देता है।

सजग मनुष्य ही आत्मा का दर्शन कर सकता है। आत्मा का दर्शन किसी का दर्शन नहीं किन्तु स्वयं के दर्शन करना है। स्वयं, स्वयं से भिन्न नहीं। अतः जीवन में कल्याण एवं सुचारु रूप से लोकयात्रा संपन्न करने के लिये सजगता परमावश्यक है।

मैं क्या हूँ ?

किसी ने पूछा कि थाली किसकी है ? पास में खड़े हुए व्यक्ति ने उत्तर दिया, 'पीतल की' । प्रश्नकर्ता ने पुनः कहा कि " अरे भाई, मैं पूछता कुछ हूँ और आप उत्तर कुछ और ही दे रहे हैं। " पर पुनः पूछने पर उत्तर देनेवाले ने भी दुबारा वही उत्तर दिया । पर यह उत्तर, प्रश्न के आशय के अनुकूल नहीं है ।

सवालें दीगर जवाबें दीगर

इसी प्रकार प्रश्न कुछ और है और हम उसका उत्तर कुछ और ही दे रहे हैं । प्रश्न यह नहीं है कि मेरा क्या है ? प्रश्न तो यहां यह है कि मैं कौन हूँ ? मेरा जो भी कुछ है, वह यहीं धरा रह जायेगा किन्तु अपना 'मैं' कभी अपने से भिन्न नहीं होगा । निज का मूल है— 'मैं' । क्योंकि मैं बिना मेरा नहीं होता । 'मैं' को समझे बिना ही यह 'मेरा-मेरा' कर रहा है । जिन लोगों ने 'मैं' को समझ लिया है— वे 'मेरा-मेरा' नहीं करते । मेरा जग के पदार्थों से सम्बन्ध आसक्ति के कारण ही है । जिस महापुरुष को जग के पदार्थों में आसक्ति नहीं रही उसके लिए मेरापन भी नहीं रहा । हमें अपने कल्याण के लिए निजीपन की ओर आना है ।

अपने स्वामित्व का पता लगाना है, न कि मेरेपन का । जिस प्रकार थाली किसकी है — पूछने से तात्पर्य उसका स्वामी जानने से था, न कि किस धातु की बनी है इससे, उसी प्रकार 'मैं क्या हूँ' यहां अपने सच्चे स्वरूप को जानने से मतलब है । इसी के बताने में सारे अध्यात्म शास्त्र सहायता करते हैं । 'मैं क्या हूँ' यह जान लेने पर फिर जानने को कुछ भी बाकी नहीं रहता । अतः 'मैं क्या हूँ' इसकी खोज हर एक प्राणी को करनी चाहिये ।



श्रेय तथा प्रेय का मार्ग

मनुष्य की अध्यात्मोन्नति के लिए श्रेय और अवनति के लिए प्रेय मार्ग होता है। श्रेय मार्ग में मनुष्य को आत्मसंयम तथा साधना में पुरुषार्थ करना पड़ता है। तभी अंत में इनका परिणाम शाश्वत सुख होता है। प्रेय मार्ग में इंद्रियों के विषय प्रिय लगते हैं। उसे तात्कालिक क्षणिक सुख भी प्राप्त होता है किंतु अंत में उसके सुखाभास का परिणाम दुःख ही होता है। भोग का परिणाम रोग ही है। तभी तो सन्तों ने भोग में रोग का भय माना है। भोग भोगते-भोगते इंद्रियां और शरीर शिथिल पड़ जाते हैं, उनकी प्रखरता चली जाती है। प्रवृत्ति बढ़ती जाती है और भोगों से तृप्ति कभी नहीं होती। भोग के बाद शरीर के अत्यंत क्षीण होने पर भोगों के प्रति घृणा हो जाती है, किंतु वह घृणा टिकती नहीं। कुछ काल के बाद अभ्यासवश फिर उसी भोग की इच्छा जाग्रत हो जाती है। इसी प्रकार बार-बार इच्छा, क्षीणता और भोगलिप्सा मिल कर अंत में मनुष्य को काल के गाल में ढकेल देते हैं।

चुनना है मार्ग स्वयं

मनुष्य श्रेय मार्ग पर चले अथवा प्रेय मार्ग पर, इसका चुनाव मनुष्य आप ही कर लेता है। इस बात में मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र है कि वह कौन से मार्ग पर चले, श्रेय पर अथवा प्रेय पर। श्रेय मार्ग में वह संदेहों की निवृत्ति के लिए सत्संग करता है। अपने और शास्त्रों के साथ गुरु के अनुभवों का समन्वय करता है। वह अपने विवेक से देहबुद्धि को रोकता है और आत्मबुद्धि को दृढ़ करता है। वह श्रवण तथा मनन करता रहता है। वह द्वैत-भाव छोड़कर सब भूतों में एक आत्मबुद्धि को रखकर अद्वैत का साधन करता है। वह साधुओं के गुण सुन उन्हें धारण करने की चेष्टा करता है। वह असत्कर्मों को नष्ट करता हुआ पुण्यों का एवं निष्काम कर्मों का संग्रह करता है। विचार से अविचार को दूर भगाकर श्रेय मार्ग प्रशस्त करता है।

श्रेय बिना निःश्रेयस् नहीं

श्रेय मार्ग पर चलनेवाला साधक अंत में अपने निजी लक्ष्य-मोक्ष को प्राप्त करता है। पर प्रेय मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति अंत में अधोगति को प्राप्त होता है। इस कारण प्रेय का त्याग कर श्रेय मार्ग को अपनाना चाहिये, क्योंकि श्रेय बिना निःश्रेयस् नहीं मिलता।

संकल्पशक्ति और लक्ष्य प्राप्ति

मनुष्य की सफलता उसकी संकल्पशक्ति और लक्ष्य-दृढ़ता तथा विश्वास पर निर्भर रहती है। राजा की लगन जिस तरफ होगी, वह पूरी ही होगी। संकल्पशक्ति के धनी राजाओं तक ने अध्यात्म-वाद को अपनाया और जंगलों में जाकर संतों की कुटियों में झाड़ू लगाने तक का कार्य भी किया। राजाओं ने राजपाट को त्यागा, दर-दर की खाक छानी, संतों की सेवा की मात्र अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए। आज भी विदेश से बहुत-से सुशिक्षित विद्वान इस भारत भूमि पर संतों की खोज करने के लिए आते हैं ताकि कोई ऐसा संत उनको मिल जाये जो कि उन्हें आत्मप्राप्ति का सच्चा रास्ता बतला सके। लगन एक ऐसी चीज है जिससे मनुष्य दृढ़तापूर्वक अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। अध्यात्म की लगन एक ऐसी लगन होती है जो किसी के मिटाये नहीं मिट सकती। एक बार जिसको इसका रस आना शुरू हो जाता है वह इसी में रत हो जाता है।

स्त्री-हठ और बाल-हठ

स्त्री-हठ और बाल-हठ प्रसिद्ध हैं। ये भी जिस वस्तु को पकड़ लेते हैं कभी नहीं छोड़ते। जब इनके हृदय में तीर की तरह

बात लग जाती है तो इनका हठ उलटकर अध्यात्म प्राप्ति में दृढ़ता का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार स्त्रियों में भी बड़ी-बड़ी भक्त स्त्रियां हुई हैं। मीराबाई, सहजोबाई, नामदेव की स्त्री, कमाली, गोदम्बा, कुमुदवल्ली, रंगनायिकी, विजयगढ़ की महारानी आदि अनेक दिव्य भक्त स्त्रियां हुई हैं जिन्होंने अपनी जान पर खेल कर भक्ति की आन निभाई है। बालकों में ध्रुव और प्रह्लाद भक्त मण्डूर हैं। उन्होंने भी बालहठ की दृढ़ता के कारण अपने स्वरूप की प्राप्ति की। शिवली, मन्सूर, सम्मतबरेज आदि अनेक सूफी सन्तों ने शूली चढ़ जाने पर भी अपनी अध्यात्म की कील रखी।

जब मनुष्य की संकल्पशक्ति जागती है तो वह दृढ़तापूर्वक अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। फिर आत्मप्राप्ति में देर नहीं लगती।



दर्शन और जीवन-दर्शन

मनुष्य जन्म को जीवन बनाने के लिए ही जन्म लेता है। जन्म तो सब का होता है किन्तु जीवन किसी-किसी का। जन्म मां-बाप देते हैं, किन्तु जीवन गुरु से प्राप्त होता है। गुरु भेद में अभेद के दर्शन कराते हैं और अभेद का भेद बता कर शिष्य को भेद से निकाल अभेद की ओर ले जाते हैं। भेद तो हजामत बनानेवाला नाई भी जानता है। भेद तो सब को दीखता रहा है किन्तु जो भेद के अन्दर अभेद के दर्शन है, वही वास्तविक जीवन-दर्शन है।

प्रायः सभी व्यक्ति मूर्च्छित व अचेत अवस्था में ही जन्म को व्यतीत कर देते हैं। उनको मिट्टी के दिये की तरह यह पंच-भौतिक शरीर तो मिला किन्तु उसके अन्दर जो यह लौ जगानी थी, तथा यह दिया जो कुछ होने के लिए था, वह न हो सकने के कारण निरर्थक हो जाता है।

ज्ञान की लौ

दिया-बत्ती-तेल हो, तो उसमें लौ जलाने में देर नहीं लगती। इसी प्रकार मनुष्य में अधिकारी के लक्षण पूरे हों, तो उसमें ज्ञान

होने में देर नहीं लगती। ज्ञान तो उसमें है ही, किन्तु ज्ञान का ज्ञान न होना ही अज्ञान है। हमें पदार्थों, व्यक्तियों-संपत्तियों का तो ज्ञान है, किन्तु हम जिससे इन सब को जानते हैं, उसे नहीं जानते, यही अज्ञान है। हमारी दृष्टि बहिर्मुख होने के कारण हमें वहां के पदार्थ तो प्रतीत होते हैं, किन्तु हम जिससे देख रहे हैं, उसको अनुभव नहीं कर पाते।

अन्दर का प्रकाश

रात के समय मोटर बसों में ड्राइवर अन्दर की वस्तियां बन्द कर देते हैं, जिससे उनके बाहर स्पष्ट दिखाई देता है। इसी प्रकार जब मनुष्य के अन्दर ज्ञान की वृत्ति बुझ जाती है तो अज्ञान के अंधकार में बाहर के पदार्थ ही दृष्टिगोचर होते रहते हैं, किन्तु जब बस की तरह बाहर की वृत्ति बन्द कर अन्दर प्रकाश हो जाता है, तो बाहर के पदार्थ फोके पड़ जाते हैं। जब मनुष्य के अन्दर ज्ञान का महानता हो जाती है तो सुख-शान्ति की अनुभूति उसके अन्दर ही होती है। उसे शान्ति के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता। वह आनन्द का स्वयं में ही खोज लेता है। जब उसका आनन्द किसी पर अवलम्बित नहीं होता तो वह पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। वह उसे जब जी चाहे प्राप्त कर सकता है। यही है जीवन-दर्शन।

शास्त्रों को दर्शन-शास्त्र इसलिए कहते हैं कि उसके माध्यम से मनुष्य को स्वयं के दर्शन हो जाते हैं। हम मन्दिरों में भी जो दर्शन करने जाते हैं, उसका भी तात्पर्य यही है कि मन्दिर में भगवान के दर्शन करते-करते हमें अपने दर्शन हो जाते हैं। एक बार मैं माधवबाग स्थित लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में दर्शन करने

गया। वहां मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि कुछ लोग भगवान के समक्ष खड़े होकर दर्शन कर रहे थे, और कुछ भगवान की ओर पीठ कर खड़े थे। मैंने यह जानने की चेष्टा की कि यह पीठ को उधर कर क्या कर रहे हैं? मुझे प्रतीत हुआ कि वह दर्पण में देख रहे हैं। उनका कद छोटा था व उनके आगे कुछ लम्बे व्यक्तियों के आ जाने से वे भगवान के दर्शन सीधे नहीं कर पाए थे। इसलिए उन्होंने दर्पण के प्रतिबिम्ब द्वारा दर्शन करने की युक्ति निकाली।

दर्पण सदृश विराट् जगत

कुछ साधक ऐसे हैं जो तीव्र जिज्ञासा को लेकर भगवान के सम्मुख हो उनके दर्शन कर लेते हैं; किन्तु कुछ ऐसे हैं जिनका अधिकार ऐसा नहीं। वे भगवान के दर्शन दर्पण सदृश इस विराट् जगत में कर लेते हैं। वह चलती-फिरती मूर्तियों को भी भगवान का ही प्रतिबिम्ब समझते हैं। जल - थल - आकाश व वायु में उन्हें भगवान के ही दर्शन होते हैं।

हम किसी मनुष्य को मिलने के लिए जाते हैं तो उसे कहते हैं कि आप के दर्शन करने आए हैं। फिर पूछते हैं कि क्या आप स्वस्थ हैं? यहां दर्शन का तात्पर्य यही है कि मैं तुम्हारे में भगवान के दर्शन करूं। आप स्वस्थ हैं— इसका तात्पर्य है कि आपकी स्व में स्थिति है न! एक ईसाई पादरी ने मुझे बताया कि नमस्ते का अर्थ है नमः अर्थात् मैं नमस्कार करता हूं, ते, उस परमात्मा का। जब हम किसी व्यक्ति को नमस्ते करते हैं, तो भी हम भगवान को ही नमस्ते करते हैं। उसका यह अर्थ मुझे बहुत ही अच्छा लगा। यदि मनुष्यमात्र की ऐसी भावना हो जाय, तो उसे प्रत्येक मनुष्य में ही भगवान के दर्शन होने लगें।

जीवन-दर्शन जिसको हो जाता है, उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है। उसे कुछ करना बाकी नहीं रह जाता है। उनका जीवन लौ की तरह सजग हो जाता है। वह जहां भी जाता है वहां अपनी सजगता के कारण जीवन-दर्शन अवश्य ही कर लेता है।

शान्ति और आनन्द का अनुभव

हमारी बेहोशी, हमारा पागलपन हमें जीवन-दर्शन नहीं करने देता। हम भूत-भविष्य की कल्पनाओं में समय व्यतीत करते रहते हैं, किन्तु वर्तमान में कभी नहीं जीते। जो मनुष्य वर्तमान में जी लेता है, उसका जीवन सजग हो जाता है, और जीवन का सजग हो जाना ही जीवन-दर्शन है। वह जो कुछ भी करता है सजगता के साथ। साधारण मनुष्य करता कुछ है, सोचता कुछ है। उसका मन तो भूत-भविष्य के चिन्तन में व्यस्त है और मनुष्य हाथों से या पांव से कोई क्रिया कर रहा है तो उसकी क्रिया में मन समुच्चय न होने के कारण वह क्रिया निरर्थक हो जाती है। हम प्रायः कुछ-न-कुछ सोचते रहते हैं और वह सोचने के बाहुल्य के कारण ही कुछ मानसिक रोगों से पीड़ित लोगों को पागल-खाने जाना पड़ता है। पागलों में भी सब यही सोचते रहते हैं। वे भी शेखचिल्ली की तरह हवाई किले बनाते रहते हैं। यदि हम भी ऐसा ही करते हैं, तो हम जी तो रहे हैं, किन्तु जीवन-दर्शन नहीं कर रहे हैं। हमारा स्वयं के प्रति सजग हो जाना, अन्तर्मुख हो जाना जीवन-दर्शन है। जब हम साक्षी व तटस्थ भाव से अपने उठते विचारों के प्रति सजग हो जाते हैं, तो हमारे विचार निर्बल पड़ विलीन हो जाते हैं एवं मन निर्बल हो जाता है और ऐसी ही अवस्था में मन शान्ति तथा आनन्द का अनुभव करता है। शान्ति तथा आनन्द का अनुभव करना ही जीवन-दर्शन है।

जीवन-कला

जीवन एक उत्तम कला है। जिसे जीने की कला आती है वह सभी परिस्थितियों में जीवित रह सकता है।

एक कलाकार बहुत अच्छी वायलिन बजाता था। एक बार एक कला-प्रेमी राजा उसकी वायलिन सुनकर बेहद मुग्ध हो गया। राजा ने कलाकार को बहुत धन दिया। उसकी जेबें हीरे-जवाहरातों से भर दीं। वह कलाकार जब जंगल में से गुजर रहा था तो डाकुओं ने उसे चारों ओर से घेर, पिस्तौल दिखा उससे सब धन छीन लिया। यहां तक कि उसकी वायलिन भी उससे छीन ली। पर कलाकार इस दशा में भी हसता रहा। अंत में उसने डाकुओं से कहा कि आपने चाहे सबकुछ मेरा ले लिया पर मेरी वायलिन तो मुझे दे दो।

डाकुओं को उसके इस साहस को देख बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा कि लकड़ी का यह टुकड़ा हमारे किस काम आयेगा? अतः उन्होंने वायलिन कलाकार को लौटा दी। कलाकार वहीं एक पेड़ के नीचे खड़ा होकर वायलिन बजाने लगा। डाकुओं के कान में भी वह मधुर स्वर गूँजने लगा। डाकुओं का सरदार धीरे-धीरे

उस स्वर पर झूमने लगा । वह सोचने लगा कि हम इससे सब कुछ छीन लेने के बाद भी खुश नहीं हैं पर यह कलाकार सब कुछ छीन लेने के बाद भी खुश है ।

स्वर की एकाग्रता ने सरदार के विवेक को जगा दिया । उसे उसी समय सद्-असद् कृत्य का भान हो गया । डाकुओं के सरदार ने उस कलाकार से क्षमा मांगी और उसका सारा धन उसे लौटा दिया । कोई दूसरा न छीन ले, इस कारण वे उसको घर तक पहुंचा भी आये ।

सच्चे हृदय की वेदना

संसार में ऐसे अनेक किस्मे देखने और मुनने में आते हैं । जिसने जीवन-कला सीख ली है, वह सभी परिस्थितियों में प्रसन्न रह सकता है । उसकी प्रसन्नता परिस्थितियों के अधीन नहीं होती । यह जीने का आर्ट उमे आता है, जो सच्चे हृदय में आर्त होता है । उसी के हृदय में वेदना पैदा होती है । वेदना से ही सभी प्रकार की कलाएं जाग्रत होती हैं । इसीलिये किसी कवि ने कहा है—

“ वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान । ”

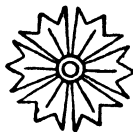
हर देश-काल-वस्तु में समाधानपूर्वक जीना सब से बड़ी कला है । जिसने इसको सीख लिया उसने सब कुछ सीख लिया । वह हर हालत में प्रसन्न एवं मस्त रह सकता है । अतः मानव को जीने की कला आनी चाहिये । यह भगवान के भरोसे पर अपने को छोड़ निज कर्तव्य पालन में समाई हुई है ।

मिथ्यात्व का भान

एक स्त्री बड़ा ही सुन्दर सोने का हार खरीद लायी। उसे देखकर उसकी पड़ोमिन, जो एक गरीब घराने की स्त्री थी, का भी मन ललक उठा और उसे भी वैसा ही हार प्राप्त करने की लालसा हो गयी। जब घर में पति आया तो उसने वैसे ही हार की माँग की। यहाँ तक कि वह औरत जिद पकड़कर बैठ गयी। मुझे एक सोने का ऐसा ही हार लाकर अवश्य दो। पति ने बहुत टालमटोल की, किन्तु जब वह स्त्री मानी नहीं तो पति ने हार लाना स्वीकार किया। पति एक नकली हार दूसरे दिन एक खूबसूरत डब्बे में बन्द करके ले आया और बोला कि देखो, मेरे पास तो पैसे थे नहीं, अतः मैं अपने एक मित्र से उधार लेकर तुम्हारे लिए यह हार खरीद लाया हूँ। इसकी कीमत ढाई हजार रुपए हैं। तुम इसको सँभालकर रखना। रोज-रोज नहीं पहनना अन्यथा लोग देखेंगे और चर्चा करेंगे कि इनके घर में इतना कीमती हार कैसे आया ?

उनकी इन बातों को घर का नौकर सुन रहा था। वह उस बनावटी हार को सच्चा हार समझ तीसरे ही दिन लेकर भाग

गया। स्त्री तो सिर पीटकर रोती रही किन्तु पतिदेव मन-ही-मन हँस रहे थे। क्योंकि वह हार स्त्री के लिए सच्चा था और पति के लिए वनावटी एवं मिथ्या था। इसी प्रकार जिनको संसार के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है उन लोगों को संसारी शोक, मोह नहीं सताते। वे हर परिस्थिति में प्रसन्न रहते हैं। संसार को मिथ्या समझने वाले इसके शोक मोह से परे हो जाते हैं। जो संसार को सत्य समझते हैं वे संसार के लिए रोते हैं, बिलखते हैं। असत् में सत्-बुद्धि ही हमें खराब कर रही है। इसी का नाम भ्रम है। जब यह भ्रम मिट जायगा तो हमें वास्तविक आनन्द की अनुभूति होगी और हम सदा प्रसन्न रहेंगे।



तटस्थ-दर्शन

वेदान्त-सत्सग-मण्डल जब कभी विशाल समारोह चौपाटी या क्रास मैदान में करता है, तो जनता के सुनने के लिए लाउड-स्पीकरों का विशाल प्रबंध किया जाता है। जब वहां पर प्रवचन व भाषण होते हैं तो स्पीकर का मिस्त्री उसकी ध्वनि की स्पष्टता का पूरा-पूरा ध्यान रखता है कि कहीं उसमें किसी प्रकार की खड़-खड़ाहट या कोई खराबी न हो। उस समारोह के बीच वह वहां पर होने वाले प्रवचनों को कान से सुनता तो है, किन्तु वह इस बात का ध्यान नहीं रखता कि बोलने वालों का तात्पर्य क्या है ? उसका लक्ष्य केवल इसी पर केन्द्रित रहता है कि इसकी ध्वनि ठीक से सुनाई दे रही है या नहीं ? उसका ध्यान कहे वचनों पर नहीं है, अतः वह ध्वनि तो सुनता है परन्तु भाषण के शब्दों का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता।

इसी प्रकार इस संसार में रहकर मनुष्य प्रत्येक वस्तु को केवल द्रष्टा भाव से देखे और किसी के राग-द्वेष में न फंसे। जिस प्रकार कहीं झगड़ा होता हो, उसे एक तटस्थ मनुष्य देख तो रहा हो, पर उस झगड़े में न पड़, केवल साक्षी ही हो, तो वह उस झगड़े

के समीप होकर भी उसके प्रभाव में नहीं आता क्योंकि वह निर्द्वन्द्व है ।

आध्यात्मिक पथ का राही

तटस्थ होकर केवल देखना ही द्रष्टा भाव या द्रष्टापन है ।

तीन मास के बच्चे का देखना तटस्थ दर्शन है । उसका न किसी में राग है, न द्वेष, न कोई नाता है न कोई रिश्ता है । उसके सामने जो भी आता है, वह केवल उसे देखता ही है । उससे राग-द्वेष का संबंध नहीं जोड़ता—जैसे कि लाउडस्पीकर का मिस्त्री केवल ध्वनि की ओर ही ध्यान रखता है न कि भाषण के शब्दों के भावों की ओर ।

इसी प्रकार आध्यात्मिक पथ का राही केवल द्रष्टा होकर ही देखता है । राग-द्वेष के परिणाम में नहीं फँसता । तभी वह कैवल्य का भागी होता है ।

पंखे के अन्दर करेंट को लाठी मारने से लाठी पंखे को ही लगती है, करेंट को नहीं । इसी प्रकार दुःख का प्रहार भी अंतःकरण तक ही सीमित रहता है, आत्मा तक नहीं पहुँचता । ‘मैं’ और ‘मेरा’ (निजपन) छोड़ देने के बाद, संसार के सुख-दुःखों के संबंध का स्वयं अन्त हो जाता है । मानव संसार में रहता हुआ भी संसार के दायरे के बाहर-सा हुआ जीवन-मुक्त रहता है ।

तत्त्व का अन्वेषण

संसार के फैलाव से उठकर ऊर्ध्वगति की ओर प्रगति करें । प्रायः सभी धर्म इस बात में सहमत हैं कि प्रत्येक मनुष्य को संसार के विस्तार को न नाप कर अपने देह-भाव से ऊपर उठ आत्मप्राप्ति करनी चाहिये । सभी कर्म सत्य, अहिंसा, अभय, अक्रोध, त्याग, शान्ति, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, नीति, अलोलुपता और अभ्युदय को मानते हैं । सभी धर्म प्रायः दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, अप्रतिष्ठा, असत्य, मोहासक्ति और काम आसक्ति आदि बुरी बातों का एक सा ही निषेध करते हैं ।

सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक

सत् सभी जगह सत् ही रहता है । जैसे प्रकाश सभी जगह प्रकाश ही है । सत् प्रकाश के समान है, सर्वत्र एक ही है । दो और दो चार होते हैं, ये सभी जगह दो और दो चार ही होंगे । साइंस के नियम भी सभी देशों में एक से ही हैं । इसी प्रकार 'सत्' में सभी जगहों, सभी देशों और सभी काल व सभी कर्मों में कोई अन्तर नहीं आता । नाम-भेद से सर्वत्र एक ही चीज रहती है ।

सभी देशों के मनुष्य पंचभौतिक शरीर के ही बने हुए हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख सभी धर्मों के अनुयायी, सभी के शरीर पंचभूतमय ही हैं। सभी धर्मों में जन्म और मृत्यु होते हैं। यह बात अलग है कि जन्म एवं मृतक संस्कार अलग-अलग ढंग से हों।

तात्त्विक भेद नहीं

जीवन-काल में भी शरीर जड़ होता है। शरीर में जो चेतनता है वह शरीर की नहीं किन्तु एक चेतन आत्मा की है। मरने के बाद जड़ शरीर को जला दो या दफना दो या गिद्धों को खिला दो—क्या फर्क पड़ता है! सर्वत्र मृत शरीर ठिकाने ही तो लगाया जाता है। धर्म और मजहब का लेबल तो मनुष्य के जन्म के बाद लगता है। जब वह जन्मता है तो वह न हिन्दू होता है और न मुसलमान, न पारसी और न ईसाई ही। उसमें सिर्फ होता है जीवत्व, मजहब नहीं। भिन्न-भिन्न धर्मों के जो भेद हैं, वह कर्म-काण्ड के हैं 'तत्त्व' के नहीं। 'तत्त्व' सबका एक ही है। ईश्वर भी एक ही है। ईश्वर कभी दो नहीं हो सकते। वह तो सर्वव्यापी, सर्वत्र है। किसी के मानने या न मानने पर उसकी सत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह अपनी-अपनी रुचि की बात है कि किसी ने ईश्वर को निराकार माना और किसी ने साकार। किसी ने दोनों ही मान लिया। जो धर्म के नाम पर लड़ते हैं, वे सभी अज्ञानी ही नहीं वरन् महाअज्ञानी हैं। उनकी दृष्टि तत्त्व की ओर नहीं जाती। छोटी-छोटी बातों में उलझ जाते हैं। उलझने के कारण उनका मसला सुलझता नहीं। जैसे कि हिन्दू चोटी रखता है और मुसलमान कटवा देता है। हिन्दू सीधे तवे पर रोटी बनाता है और मुसलमान उलटे तवे पर। इन बातों

का तत्त्व से कोई संबंध नहीं है। किसी की वेश-भूषा किसी प्रकार की हो सकती है। किसी ने मस्तक पर तिलक लगाया और किसी ने नहीं।

मुसलमानों में सूफी मत है, जो कि वेदान्त से बिलकुल मिलता-जुलता है। दोनों के सिद्धान्त भी एक ही हैं, हिन्दू 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हैं, वे भी 'अनलहक' का उच्चारण करते हैं। वेदान्ती हिन्दू हैं और सूफी मुसलमान, किन्तु तत्त्व में कोई भेद नहीं।

धार्मिक प्रतीक

इसी प्रकार धार्मिक प्रतीक भी अलग हो सकते हैं— जैसे एक ही मक्खन को कागज में लपेट कर अलग-अलग विक्रेता अपना-अपना लेबल लगा देते हैं और पृथक-पृथक नाम दे देते हैं किन्तु सब का तात्पर्य एक 'नवनीत' मक्खन से ही है न कि उसके रखे हुए भिन्न नामों से।

सारी दुनिया के तत्त्व एक हैं, पचभूत एक है, जन्म-मरण एक ही प्रकार से होता है, गुण-अवगुण सभी धर्मों में एक में हैं तो भेद किस बात का है?

एक ही आदि धर्म

वास्तव में एक ही आदि मानव धर्म है जिसे हम सच्ची मानवता कह सकते हैं, सभी धर्म उसी के रूपांतर हैं एवं उसी में समा जाते हैं। जो वास्तविक वस्तु-ज्ञान है, उसमें कोई अंतर नहीं है। सर्वत्र पूर्णता को पहुँचा हुआ अध्यात्म-विचार एक ही कोटि पर विभ्राम करता है।

देहभाव की निवृत्ति

देह के ही सारे सम्बन्ध हैं। पहले हम देह से संबंध जोड़ते हैं, फिर नाते-रिश्तेदार, मित्र व संसार के अन्य लोगों से संबंध जोड़ते हैं। किन्तु जिस मनुष्य का देह-भाव निवृत्त हो जाता है, उसके लिए देह से संबंधित सभी संबंध निवृत्त हो जाते हैं।

देह के साथ संधि का भाव आ जाना ही सबसे बड़ा संदेह है। देह के साथ संधि हो जाने के कारण कई प्रकार के संदेह उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि मैं यह देह ही हूँ। मैं देखता-सुनता हूँ, मैं कर्ता भोक्ता हूँ। करना, पकड़ना, चलना, फिरना, देखना-सुनना इत्यादि सभी कार्य देह के हैं, किन्तु उसमें स्व की भ्रांति हो जाती है। 'मैं' को देह के साथ एक करके रखना अज्ञान है और 'मैं' को देह से पृथक् देखना यही ज्ञान है।

निवृत्ति के तीन उपाय

देहभाव की निवृत्ति के लिए कई एक उपाय हैं।

१ - वेदान्त केसरी स्वामी निर्मलजी महाराज सरकुशी की मंजिल को प्रधानता देते हैं। वे कहते हैं कि जब मनुष्य अपने

मस्तिष्क को शरीर से कल्पना द्वारा अलग कर देता है, तो शरीर के जड़त्व के समक्ष जाननेवाला केवल बोधस्वरूप आत्मा ही रह जाता है। चिद् जड़ की जो ग्रन्थि पड़ गयी है, वह खुल जाती है। देह को मनुष्य जड़ जान लेता है और आत्मा का बोध स्वरूप यही है कि चिद् जड़ की ग्रन्थि खुल जाए।

कल्पना से धड़ को मस्तिष्क से अलग कर उसे निहारने से मन निर्विचार हो जाता है। टूटे हुए शरीर से अलगाव हो जाना निज आत्मा का बोध स्वरूप है। यह असर इस महत्त्वपूर्ण छोटी सी साधना का है।

लौ की प्राप्ति

कई लोगों को इस बात की भ्रांति हो जाती है कि यह साधना अमांगलिक है। मरने के नाम में लोग डरते हैं, किन्तु मृत्यु जन्म का ही एक अंग है। जन्म का ही दूसरा नाम मृत्यु है, और मृत्यु का ही नाम जन्म। जन्म और मृत्यु के बीच के काल को जीवन कहते हैं, यह जीवन तभी जीवन है जबकि इस जीवन काल में हमें लौ की प्राप्ति हो जाती है। हम बुझे हुए दिये न रहकर उसे सजग कर लेते हैं। जगा हुआ दीपक जगमग होकर चमकता है। इसी प्रकार सजग मनुष्य की लौ जग जाती है और वह जन्म सार्थक कर उसे जीवन बना लेता है।

दूसरा उपाय

स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती एक साधना बताते हैं कि मनुष्य अगर कमरे में बैठा है, तो आंख उठाकर यह समझे कि मैं छत पर बैठा हूँ। इससे भी देहभाव की निवृत्ति होती है क्योंकि जो असली देह है, उससे तो हमें आसक्ति रहती नहीं। हम

काल्पनिक देह को ध्यान में रखकर देखते हैं, तो उससे अलगाव पैदा हो जाता है ।

तीसरा उपाय

आचार्य श्री रजनीश एक साधना बताते हैं कि अपनी ही शव-यात्रा अर्थात् अर्थी पर पड़े हुए निज शव को देखो, इर्द-गिर्द खड़े नाते-रिश्तेदारों के दुःख-भाव को देखो, और फिर इस देह को चिता पर लेटा कर इसके अग्नि-संस्कार को देखो । इससे शरीर की कल्पना भस्मीभूत हो जायेगी और शरीर अलगाव को प्राप्त हो जायेगा ।

वास्तव में देखा जाये तो यह शरीर काल्पनिक है । यह हमारी कल्पना का ही परिणाम है । हमने इसके अन्दर 'मैं' बुद्धि कर इसे 'मैं' मान लिया । अब कल्पना, कल्पना से ही कटती है ।

देह-त्याग से निवृत्त होने के लिए अन्य भी कई साधनाएं हैं, किन्तु यहां पर विषय को लंबा न कर ऊपर केवल तीन साधनाओं की ही चर्चा की गयी है ।

'शरीर' उर्दू भाषा में शरारत को कहते हैं । यह अपना आवरण जीव पर चढ़ा देता है और जीव इसे ही 'मैं' मान लेता है, यही इसकी शरारत है ।

देह-भाव से निवृत्त होने के लिए देह से अलग होने की साधना किसी भी साधक के लिए अनिवार्य है । देह की एक इल्लत व उपाधि है । जब देह-भाव की निवृत्ति हो जाती है, तो आत्मप्राप्ति में देर नहीं लगती । देह भाव ही आत्मप्राप्ति में बाधक है ।

भक्ति और ज्ञान

युक्ति से की हुई भक्ति मुक्ति का कारण बनती है। भक्ति के बिना ज्ञान नीरस है। ज्ञान के बिना भक्ति अंधी है। जैसे किसी दीपक में तेल की स्निग्धता उसके प्रकाश का कारण होती है उसी प्रकार ईश्वर के प्रति प्रेम स्निग्धता तथा आत्मप्रकाश का कारण होता है। भक्ति तो बुनियाद है। भगवत्-साक्षात्कार रूपी भक्त के निर्माण के लिए अगर भक्तिरूपी बुनियाद ही ठीक नहीं होगी, तो वह मकान कभी भी गिर सकता है। इसी प्रकार भक्ति से ही ज्ञान की नींव बनती है, जिस पर आधारित ज्ञान प्रेममय, स्निग्ध तथा रसपूर्ण होता है। भक्तिपूर्ण ज्ञान से जीवों के प्रति सद्भावना, आत्मीयता, उदारता, स्नेह और प्रसन्नता उत्पन्न होती है।

भवन का जीवन एक अमर प्रेम रस से ओत-प्रोत छलकते प्याले के समान होता है। भक्त का हृदय प्रेम से द्रवीभूत हो जाता है। उससे किसी भी प्राणी का कष्ट सहन नहीं होता। वह दूसरे के कष्टों को अपना कष्ट समझता है। दूसरे की सेवा अपनी सेवा मानता है। वह तन, मन, धन से भगवान की पूजा-अर्चना में

तन्मयतापूर्वक लगा रहता है। प्रत्येक प्राणी की सेवा में भी सर्वेश की सेवा समझता है। वह किसी से द्वेष नहीं करता। सबसे मैत्री-भावना रखता है। सभी प्राणियों के हृदय में भगवान के दर्शन करता है। प्राणियों के हृदय को ही वह भगवान का मंदिर समझता है। किसी भी प्राणी को अपशब्द कहना या उसके हृदय को दुःखी करना अथवा उसके हृदय को ठेस पहुंचाना, भगवान के मंदिर को ठेस पहुंचाने के बराबर मानता है।

पराभक्ति

वह निष्काम बुद्धि से लोकसेवा करता है। वह सदा सरल, निःस्वार्थ भाव से रहता है। ईश्वर ने जिस परिस्थिति में उसे रखा है, उसी में वह संतोष मानता है। भक्ति कोई ज्ञान से भिन्न नहीं, वह तो स्वयं चिद् ब्रह्म तथा ज्ञान और आनंद ब्रह्ममय या तद्रूप भक्ति है जो कि अद्वैतानुराग से प्राप्त होता है। भक्ति की पराकाष्ठा पर जा कर भक्त, भक्ति और भगवान तीनों एक हो जाते हैं, जहां पर द्वैत रहता ही नहीं। भक्त भगवान और भगवद्-विभूति—दोनों के साथ अद्वैत को प्राप्त हो जाता है। उसी का नाम है—पराभक्ति। चाहे एक को निन्यानवे में मिला दे, चाहे निन्यानवे को एक में मिला दे, दोनों का तात्पर्य पूर्णता में है। एक को निन्यानवे में मिलाना भक्ति है और बाकी सबको एक में मिला देना ज्ञान है। मैं को तू में मिला देना भक्ति है और तू को मैं में मिला देना ज्ञान, दोनों में कोई अन्तर नहीं। या तो 'तू-तू' करते तू में मैं को समाप्त कर दिया जाय अथवा 'मैं-मैं' करते-करते तू को मैं में समाप्त कर दिया जाय। तात्पर्य द्वैत निवृत्ति में है।

निर्भय जीवन - यात्रा

कुल्लू वैली में मनाली है। मनाली से तेरह हजार फुट से ऊपर की बुलन्दी पर रोहतांग दर्रा है। मनाली से यहां डीलक्स बस जाती है। एकदम ऊपर की चढ़ाई और विकट रास्ता हृदय में भय उत्पन्न कर देता है। बस-सवारों में से बहुत से निर्भीक लोग तो आनन्द के साथ प्रकृति के सौंदर्य का अवलोकन करते एवं पहाड़ों के मनोरम दृश्यों का आनन्द लेते-लेते सफर करते हैं, किंतु सवारों में से कुछ लोग जो तंग और विकट रास्ते की कठिनाई से भयभीत होते हैं, इस अपूर्व सौन्दर्य के निरीक्षण के आनन्द से वंचित रह जाते हैं। जब रास्ते में बस मोड़ लेती अथवा तंग रास्ते से गुजरती तो उनमें से बहुतों के ऊपर का दम ऊपर और नीचे का दम नीचे रह जाता।

यह बात केवल ऐसी विकट यात्राओं में ही नहीं है बल्कि हम जगत में भी भय के कारण अपनी जीवन-यात्रा का पूरा आनन्द नहीं ले पाते। इस संसार-यात्रा में भी जो लोग निर्भीक होकर विचरते हैं केवल वही जगत के सौंदर्य का आनन्द ले पाते हैं।

अनेक भय

जगत में प्रायः कोई न कोई भय लगा ही रहता है। व्यापा-

रियों को सरकारी महकमाँ का भय लगा रहता है। परिवार में किसी के गुजरने का भय भी कम नहीं है। अपनी वृद्धावस्था का भय भी होता है। किसी को रुग्ण हो जाने का भय सताता है। इस प्रकार अनेक भयों के कारण संसार में जीवन व्यतीत करने का जो असली आनन्द है जीव उससे वंचित ही रह जाता है। विविध प्रकार के भय संसारी जीव को निरानन्द बना देते हैं।

भीत को आनन्द नहीं

मनुष्य का मन एक समय में एक ही काम कर सकता है। अगर वह भयभीत होता है तो आनन्दित नहीं हो पाता, क्योंकि भीत को आनन्द नहीं मिल पाता। अगर उसे आनन्द की प्राप्ति चाहिये तो उसे भय से निवृत्त होना ही पड़ेगा।

लोनावला के रास्ते में बरसात के दिनों में बड़ी-बड़ी ऊँचाई से पानी गिरता है। कल-कल करता या लहराता हुआ जल नीचे गिरता हुआ सुन्दर प्रतीत होता है। उसको परमात्मा गिराता है तो गिरता है, जब बहाता है तो वह बहने लग जाता है। उसका अपना कोई चुनाव नहीं होता। पानी में उठती लहरें कभी चुनाव नहीं करती कि अमुक परिस्थिति में हम रहें। हमारी इतनी ऊँचाई-लम्बाई हो। वे तो जल के प्रवाह के साथ बहती चली जाती हैं, उठती हैं, गिरती हैं, फिर उठती हैं।

शरणागति का मुख्य तत्त्व

पहाड़ों के रास्ते में पहले चढ़ाई और तब उतराई आती है। पुनः उतराई और फिर चढ़ाई आती है। कहीं-कहीं यही क्रम अनेक बार चलता है। कहीं-कहीं पहाड़ों के अन्दर रास्ते अपने-आप बन जाते हैं, घाटियाँ और दर्रे बन जाते हैं। वे रास्ते यह

नहीं कहते कि हमें अमुक ढंग से ही बनाओ। वे जैसे बनाये जाते हैं उसी में परमात्मा की मर्जी समझते हैं। मनुष्य भी अगर परमात्मा की मरजी पर अपने आपको छोड़ दे, अपने आपको परमात्मा को समर्पित कर दे, परमात्मा जैसे रखे वैसे ही रहे तो जीवन की बहुत-कुछ समस्याएं स्वयं हल हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में आशा-कामना और तृष्णा नहीं रहेगी। वहां केवल प्रभु की इच्छा ही काम करती है। यही शरणागति का मुख्य तत्त्व है कि शरणागत स्वयं को सर्वेश के ऊपर छोड़ सर्वथा निर्भय हो जाता है।

पानी का गिरना, बहना सब प्रेरित है, इसी कारण वह अपने लक्ष्य सागर तक पहुंचकर उससे एक हो जाता है। जो मनुष्य प्रभु प्रेरणा स्वीकार कर कम करता है वह निर्द्वन्द्व होकर जगत में विना आकर्षण-विकर्षण के जीता है।

आत्मविकास

जंगल में बड़े सुन्दर-सुन्दर फूल खिले होते हैं। वद्रीनारायण के रास्ते में हेमकुण्ड एक स्थान है, जहां गुरु गोविंद साहब ने बड़ी तपस्या की थी। वहां अनेक प्रकार के फूल स्वाभाविक ही पैदा होते हैं और खिलकर उस गली को सौंदर्य प्रदान करते हैं। उन फूलों को देखने के लिये कुछ लोग जाते हैं। वे फूल खिलते हैं अपनेतयी और अपनी प्रसन्नता के लिये, चाहे उन्हें कोई देखे या न देखे। यह उनका आत्मविकास है।

संसार के लोगों में दिखावट अधिक और वास्तविकता कम है। अधिकतर काम दूसरों को दिखाने के लिये किया जाता है। अगर कोई छोटा-सा दान देता है या छोटी सेवा भी कर देता है तो दूसरे दिन सबेरे उठते ही समाचार पत्र देखता है कि हमारे दान

की चर्चा पत्र में आयी या नहीं । फूलों का जीवन स्वाभाविक और सहज और सरल है । वे अपनी प्रसन्नता से खिलते हैं । यह दूसरी बात है कि उनकी प्रसन्नता से दूसरे भी प्रसन्न हों । इसी प्रकार का जीवन अगर मनुष्य का भी हो जाये तो उसके जीवन में भी स्वाभाविक सहजता और सरलता आ जायेगी । वह प्रकृति के सौंदर्य को प्राप्त कर सकेगा । सच्चे भगवत् शरणागतों के जीवन अनन्तकाल तक संसार के श्रेष्ठ पुरुषों के आदर्श बने रहते हैं । वे ही निर्भय होकर दृश्यों को देखते हैं एवं स्वयं भी दर्शनीय लगते हैं ।



संशयात्मा विनश्यति

प्रायः देखा जाता है कि बहुत से साधक साधना न कर 'अगर-मगर' की शंका में ही रह जाते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि निश्चयात्मक नहीं होती। वे उस नौकर की तरह होते हैं— जो कि अगर-मगर लगाकर मालिक के काम को टाला करता है।

एक बार ऐसे ही नौकर से मालिक ने कहा कि डाक्टर बुला ला। उसने कहा कि वह वहाँ नहीं हुआ तो? यह सुनकर मालिक ने कहा किन्तु जा तो सही, यहाँ बैठे-बैठे कैसे कहता है कि वह नहीं मिला तो? नौकर ने कहा कि अगर वह मिल भी गया और न आया तो? मालिक ने जब और आग्रहपूर्वक कहा तो नौकर ने कहा कि अब वर्षा हो रही है। मैं कैसे जाऊँ? मालिक ने बाहर झाँक कर देखा और कहा कि बाहर तो अब बादल भी नहीं है, फिर वर्षा कैसे हो रही है? यह सुनकर नौकर ने कहा कि अभी-अभी गीली बिल्ली बाहर से आई है, इससे मालूम होता है कि बाहर वर्षा हो रही है।

मालिक का दर्द इन बातों के दौरान कुछ ठीक हो गया तो उसने नौकर से कहा कि अच्छा, दरवाजा बंद कर दे। नौकर

बोला कि इतने सब काम तो मैंने कर दिए हैं, अब यह एक काम आप ही कर लें तो ठीक हो !

इसी तरह के अगर-मगर से साधक अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता, क्योंकि साधक की बुद्धि तो निश्चयात्मिका होनी चाहिए। अगर-मगर करने से जिन्दगी यूँ ही हाथ से निकल जाती है। सिवा विनाश के अन्य कुछ नहीं बचता। गीता में भगवान कृष्ण की उक्ति है—“ संशयात्मा विनश्यति ”। अतः किसी भी प्रकार की साधना बिना किसी अगर-मगर के पूरी करनी चाहिये तभी लक्ष्य सिद्ध हो सकेगा।



अंतरात्मा संसारी नहीं

एक दिन मैं भोईवाड़ा भोलेश्वर (वम्बई) की एक दूकान पर बैठा था कि पासवाले मकान में से किसी के मरने की खबर आई। इतने में ही रोटती-पीटती कई स्त्रियां भी वहां आ गयीं। वहां उन्होंने एक गोल दायरा बना लिया। फिर उन्होंने जोर-जोर से छाती पीट-पीटकर रोना शुरू कर दिया। उनका छाती पीटना, विलकुल सेना की कवायत की तरह वाकायदा ताल-स्वर से हो रहा था। सबके हाथ एक ही समय पर एक जैसी आवाज के साथ उठते, सीने पर पड़ते और नीचे गिरते थे। इस प्रकार वहाँ एक विशिष्ट स्वर-ताल के साथ रोना-पीटना चलने लगा। यह देख कर मेरे मन में कौतूहल उत्पन्न हुआ। मैंने मुनीम से पूछा कि इस प्रकार से उन्होंने रोना कहीं से सीखा है क्या ?

मुनीमजी बोले— हां, इनमें आधी स्त्रियां ऐसी होती हैं जिनका कि मरण के अवसर पर जाना और इस प्रकार से रोना एक पेशा होता है। ये रोने-पीटने के भी पैसे लेती हैं। जितनी अच्छी तरह से ये रो सकती हैं उतनी अच्छी तरह से मरनेवाले के घरवाले भी शायद नहीं रो सकते। इनका रोना-पीटना एक विशिष्ट कला का प्रदर्शन ही बन जाता है। स्पष्ट है कि इनका यह रोना केवल

ऊपरी होता है। रोना रोने की ऐंकिंग के सिवा अन्य कुछ नहीं होता। इन्हें अपनी सुंदर ऐंकिंग पर भीतर से प्रसन्नता तथा ऊपर से शोक होता है।

संसार और संसारी

जिस प्रकार ये स्त्रियां रोने के हाव-भाव करते हुए भी हृदय से तटस्थ रहती हैं, अन्तर से अपनी निर्लिप्तता को नहीं भूलतीं, उसी प्रकार मनुष्य स्वयं संसार के सग के प्रसंगों में अपनी आध्यात्मिक प्रसन्नता को न भूले। तटस्थ भाव से संसार के प्रति व्यवहार करे। **समझे कि यह संसार है, पर मेरी अन्तरात्मा संसारी नहीं है।** भ्रम ने उसे संसारी सरीखा बना रखा है। वह जितना उदासीन रहेगा उतना ही मोक्ष की ओर बढ़ेगा। संसार से उदासीन रहे बिना यह जगत बन्धन का कारण बन जाता है।

उदासीन का कर्मण्य कर्म से कोई संबंध नहीं रह जाता। वह सुख-दुःखों में सुख-दुःखों को भोगने का व्यावहारिक अनुकरण करते हुए भी भीतर से उनसे अलग ही रहता है। यह स्थिति प्रत्यक्ष प्राणी की हो सकती है यदि वह स्वयं को जगत से निर्लिप्त मान ले।

चिद् जड़ ग्रन्थि

त्रिवेन्द्रम के एक सार्वजनिक हास्पीटल में मैं गया। वहां मैं वी. वी. सेक्शन अर्थात् मुर्दों को काटने का विभाग, जहाँ कि मेडिकल विद्यार्थियों को शरीर विज्ञान सिखाया जाता है, देखने गया।

जब भी कोई आदमी लावारिस मर जाता है, तो उसे वहां ले जाते हैं। फिर उसमें एक ऐसी दवा भर देते हैं, जिससे मुर्दे का शव छः मास तक खराब नहीं होता। वहां स्त्री-पुरुषों के शव को ऐसे रख दिया जाता है जैसे मालगोदाम में लकड़ी के शहतीर रखे जाते हैं।

विद्यार्थियों को शरीर विज्ञान सिखाने के लिए रोज वहां से एक या दो मुर्दे निकाले जाते हैं। फिर कोई उनकी आंख, कोई कान और कोई पेट काटता है, जिससे उन्हें शरीर विज्ञान की साक्षात् जानकारी होती है। जब वहां विद्यार्थी मुर्दों को काट रहे थे, उस समय वहां शरीर की जड़ता प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही थी तथा उसके अन्दर पहले जो चेतना सूक्ष्म शरीर के रूप में जो थी वह अलग हो गयी थी और यह जड़ शरीर यहीं रह गया था, जिसे न अपना पता था न दूसरों का। यह वही शरीर था जिसमें

जरा सुई चुभने पर मनुष्य चिल्ला उठता है। अब उसी शरीर को नश्वरों द्वारा काटा जा रहा था, जिसका शरीर को कोई पता न था।

अस्तित्व का आधार

इस दृश्य से मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि शरीर जड़ है और इसमें ज्ञान शक्ति इससे अलग है और उन दोनों के मिश्रण से अहंभाव उत्पन्न हुआ है। अहंभाव से संसार, मैं-मेरा, तू-तेरा सब पैदा हो गये। शरीर के अन्दर फैला रक्त, मज्जा, नस, नाड़ी तथा चर्म को कुछ पता नहीं कि ये क्या हैं? वहां तो केवल उसके अन्दर जो चेतन विराज रहा है, उसी से हमें यह पता चलता है कि पांव को कांटा लगा। पांव को कांटा लगने का ज्ञान, ज्ञान का सूचक है। यदि कहीं ज्ञान न हो, तो हमें कांटा लगने का पता नहीं चलेगा। कांटा लगने का पता हमें ज्ञान से ही चलता है। हम ज्ञान से ही सुनते-बोलते और चलते हैं। इन सब क्रियाओं का हमारे अस्तित्व का मूल-भूत आधार ज्ञान है। यदि शरीर में से ज्ञान निकाल दिया जाये तो फिर उसे चाहे लकड़ी की तरह जला दो, गाड़ दो, उसे कुछ भी पता नहीं चलता। फिर तो यह पंच-भौतिक शरीर पंचभूतों में ही मिल जाता है।

मनुष्य यदि जीवनकाल में ही इस चिद्जड़ की ग्रंथि को खोल सके, तो उसका जीवन सफल हो जाये।

हमने शरीर को मेरा मान लिया है, यही तो मूल में भूल है, जबकि शरीर न मैं है, न मेरा। यह तो एक साधन है।

चेतन की आवाज

टेलिफोन आपरेटर कहती है कि दिल्ली से बात करो, तो

उसका यह तात्पर्य होता है कि दिल्ली स्थित किसी व्यक्ति से बात करो। बात करनेवाला चेतन और टेलीफोन का चोंगा जड़ है। चोंगा आवाज को सुनाने का साधन तो है, पर आवाज स्वयं चोंगे की नहीं। इसी प्रकार शरीर एक साधन है, जिसके अन्दर शक्ति ज्ञान की है, जिससे यह देखता-सुनता-चलता-फिरता और सभी कुछ करता है।

शरीर में होते हुए भी हम शरीर की जड़ता व आत्मा की अमरता को पहचान लें, तो हमारी चिद्जड़ की गुत्थी खुल जाती है।

प्रत्यक्ष अनुभव

यह सत्य जितनी जल्दी हास्पिटल में उस काटने के विभाग को देख समझ में आता है, उतना प्रवचनों द्वारा नहीं। उस विभाग में तो हम शरीर की जड़ता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

श्मशान भूमि में भी जब शव को लकड़ियों पर रख देते हैं तो उसे अग्नि दाह का कुछ पता नहीं चलता, किन्तु जब मनुष्य जीवित होता है, तो जरा सी आंच लगने पर उंगलियों को पीछे खींच लेता है। यही उस चेतन की चेतना है, जिससे हर शरीर देख-सुन-बोल और चल रहा है।

खण्ड दूसरा

अहंकृति

• जो मनुष्य आत्मनिरीक्षण न करके अपने को सदा निर्दोष मानता है और दोषों की ओर देखता ही नहीं, वह अहंकारी बना रहता है । ●

— हाफिज खुरासानी

क्रोध - पिशाच

एक बार बम्बई स्थित नरीमन प्वाइंट पर मैं घूम रहा था कि अकस्मात् किसी औरत के चिल्लाने की आवाज आई। मुझे भी यह जानने की इच्छा हुई कि यह आवाज किसकी है। जब मैं उसके पास गया तो मैंने देखा कि उसका पति उसे धसीटकर ले जा रहा है। वह उसे समुद्र में फेंकने की चेष्टा कर रहा था, किन्तु वहां के लोगों ने शोरगुल किया और उस स्त्री को बचा लिया।

उस स्त्री के पति से पूछा गया कि तुम ऐसा क्यों कर रहे हो?

वह बोला—मैं इसे समुद्र में फेंकना चाहता हूं।

आखिर हुआ क्या ? ऐसा क्यों करना चाहते हो ?

उसने कहा — जब मैं काम करके आया तो मैंने देखा कि आटा-दाल-चावल इत्यादि रसोई के सभी साधन घर में मौजूद हैं, फिर भी इसने खाना नहीं बनाया। मैं इसका पति हूं। नरीमन प्वाइंट पर बन रही बिल्डिंग में काम करता हूं। वहीं पर हमारी शोपड़ी है, जिसमें हम दिन गुजारते हैं।

पति की यह बात सुनकर मेरे मन में आया कि यह आदमी मनुष्य की आकृति में पिशाच है।

मनुष्य क्रोधावेश में आकर पशुतुल्य हो जाता है। उसके चेहरे की आकृति इतनी विगड़ जाती है कि अगर उसे उसकी क्रोधपूर्ण आकृति का चित्र खींच कर दिखाया जाय तो और तो क्या, वह स्वयं भी उसे बिलकुल पसन्द न करे।

अपने आपका विस्मरण

जब हम क्रोधावेश में होते हैं, उस समय हम अपना मुंह दर्पण में देखें तो बहुत हद तक हम इस समय क्या हो रहे हैं, यह हमारी समझ में भलीभांति आ जाये। क्योंकि जब हम क्रोध करते हैं, तो हम पूरे होश में नहीं रहते। क्रोधावेश में हम इतने बह जाते हैं कि अपने आपको भी भूल जाते हैं। हमारी सारी मुखाकृति विगड़कर बड़ी वीभत्स बन जाती है।

क्रोध बोध को खा जाता है; क्योंकि क्रोध बोध और विवेक का पूरा विरोधी है। क्रोध एक अबोध और विवेकहीनता की निशानी है। क्रोध हिंस्र पशु के समान है। जब मनुष्य में क्रोध आता है तो उसके अन्दर हिंस्र पशु का वास हो जाता है। इसी कारण वह मनुष्य न रहकर नर की आकृति में पशु हो जाता है।

क्रोध के आवेश में कोई किसी की हत्या कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप उसे सारी उन्नत कैद की सजा भोगनी पड़ती है या फांसी के तख्ते पर लटकाया जाता है। क्रोध में मनुष्य क्या कर रहा है, यह उसे पता नहीं चलता। क्रोध उसके ज्ञान पर परदा डाल लेता है। क्रोधी क्रोध की दशा में कुछ अच्छा-बुरा नहीं सोच सकता।

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिये। रविवार का दिन था। मैं प्रेमकुटीर के सत्संग से उठकर कार को स्वयं चलाते हुए घर की ओर आ रहा था। तभी मरीन ड्राइव पर देखा कि एक स्त्री मार के डर के मारे आगे-आगे भाग रही है और एक पुरुष उसको पीटने के लिए उसके पीछे दौड़ा जा रहा है। यह देख मैंने गाड़ी दौड़ाकर उसके आगे कर ली और उस पुरुष को आवाज देकर पूछा कि तुम इसे क्यों मार रहे हो? उस पुरुष से जब मैं बातें करने लगा इतने में वह स्त्री आगे भागी। मैंने जब उस आदमी को डाँटकर पुनः पूछा कि क्यों मार रहे हो, तो उसने कहा कि यह मेरी पत्नी है, इसका आचरण शुद्ध नहीं है।

मैंने पुनः पूछा कि क्या मारने से इसका आचरण शुद्ध हो जायेगा?

इतने में तो स्त्री एक फर्लांग आगे निकल गयी और पुरुष उसके पीछे दौड़ा। मैंने भी अपनी गाड़ी उसके साथ-साथ रखी, ताकि वह अपनी पत्नी को मार न सके। अब वह स्त्री बस्ती की ओर आ गयी जहाँ कि बहुत से लोग आते-जाते थे। इस तरह वड़ी मुश्किल से उस स्त्री की जान बची।

यह भी क्रोधावेश का एक प्रमाण है, जो कि प्रायः हर जगह देखा जाता है। ऐसे व्यवहार प्रायः छोटी वस्तियों में अधिक होते रहते हैं। वे लोग प्रायः अशिक्षित और गंवार होते हैं। दाम्पत्य जीवन के रहस्य को भी नहीं समझते, इसी कारण वे इस तरह का व्यवहार करते हैं। उन्हें नरक में जाना नहीं पड़ता, वे जहाँ रहते हैं उसे ही नरक बना लेते हैं। घर में लड़ाई, पड़ोसियों में लड़ाई और जहाँ काम करते हैं, वहाँ भी लड़ाई करते रहते हैं। जहाँ लड़ाई-झगड़े होते हैं, वह स्थान नरक से भी बदतर बन जाता

है। ऐसे लोग मनुष्य के रूप में पशु ही रहते हैं। जब तक कि लड़ने-झगड़ने की पशुता उनमें विद्यमान है वे कभी सच्चे सुख का अनुभव नहीं कर सकते।

अब आंखों देखी एक तीसरी घटना इस प्रकार है—एक बार लोनावला स्टेशन के प्लेटफार्म पर मैं खड़ा था। वहां मैंने देखा कि एक स्त्री और पुरुष साथ-साथ खड़े थे। पुरुष ने स्त्री के लिए साड़ी खरीदकर लायी और उसे दिखा रहा था। स्त्री को साड़ी पसन्द नहीं आयी। उसने इस पर कुछ कह दिया। पति को क्रोध आया और उसने उसी समय स्त्री के मुंह पर एक घूसा दे मारा। घूसा इतने जोर का लगा कि स्त्री के मुंह से खून निकलने लगा।

पागल जैसी हरकतें

किसी भी भले आदमी को ऐसी घटनाएं देखकर दुःख और आश्चर्य होता है। किन्तु ये सब पागलपन की निशानी ही है। पागल वे ही नहीं जो पागलखाने में हैं। पागलखाने के बाहर भी बहुत से लोग बहुत अशों में पागल ही हैं, जो जरा-जरा सी बातों पर ऐसे धन्धे करते हैं। पर उनका पागलपन अभी शायद इस हद तक नहीं पहुंचा कि वे आते-जाते लोगों पर पत्थर मारें और पुलिस पकड़ कर उन्हें पागलखाने भेज दे।

क्रोध भी एक पागलपन है। मनुष्य इसके आवेश में आ अपने आपको भूल जाता है। वह कब क्या कर बैठता है, इसका बोध भी नहीं रखता है। यही कारण है कि पहले तो विवेकी क्रोध ही नहीं करते और यदि उन्हें क्रोध आ भी जाय, तो वे उस दशा में कोई कार्य नहीं करते—विचार कर कदम रखते हैं।

मानव-पशु

पशु में भी मन है, किन्तु बुद्धि नहीं, विवेक की कमी है, इसलिए वह पशु कहलाता है। मनुष्य में भी यदि ऐसा ही हो जाय तो वह मनुष्य के रूप में एक पशु ही होगा। अतः मानव को किसी भी दशा में विवेक और विचार का त्याग नहीं करना चाहिये। जो भी काम करना हो, विवेक और विचार के साथ करना चाहिये।

संज्ञाहीन पिशाच

क्रोध का अनुभव रखना भी क्रोध को न आने देने में सहायक होता है। पर जो क्रोध में अपने को भूल जाते हैं वे न जाने क्रोध में क्या-क्या कर बैठते हैं। क्रोध मानव को संज्ञाहीन पिशाच बना देता है। पिशाच को इतनी संज्ञा तो रहती है कि यह वह है। किन्तु क्रोध तो अपने को, दूसरे को एवं अन्यो क साथ अपने संबंधों को, सबको भूल जाता है। उसे यह भी खयाल नहीं रहता कि जो मैं कर रहा हूं इसका अंजाम क्या होगा। वह थोड़े से क्रोधावेश में जीवन भर की तपस्या तथा जीवन के सारे सुखों को नष्ट कर बैठता है।



प्राणी और अहंभाव

लोनावला में एक हरे रंग का साँप वृक्ष के हरे पत्तों में मुंह में छिपकली लिए हुए इधर-उधर घूम रहा था। साँप का रंग बिलकुल पत्तों और घास की हरियाली-सा लगता था, जिससे किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता था कि यह साँप है। चूँकि वह थोड़ा हिलडुल रहा था इसलिए अचानक नजर पड़ने पर पता चला कि यह वृक्ष का तना नहीं बल्कि हरे रंग का साँप है। वह छिपकली को मुंह में लेकर अपने शिकार के मोह में इतना मशगूल था कि पाँच-सात आदमी के इकट्ठे हो जाने पर भी वह छिपकली को लेकर भागा नहीं बल्कि वहीं उसका गला दबाता रहा ताकि थोड़े-बहुत प्राण जो उसमें शेष हैं वे भी न रहें। फिर वह उसे खा जाने को लालायित था। छिपकली के स्वादिष्ट भोजन की कामना में साँप की अपनी जान भी खतरे में थी। साँप के मुंह में यदि छिपकली न होती तो वह ऐसे समय में प्राण बचाकर भाग जाता। परंतु उसका शिकार उसके मुंह में था। वह शिकार को छोड़ना नहीं चाहता था। ऐसी हालत में जो भी तमाशा देख रहे थे, अगर उसे मारना चाहते तो बड़ी आसानी से मार सकते थे। इसी प्रकार मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति

में इतना तल्लीन हो जाता है कि अपनी जान की भी बाजी लगा देता है। उसे अपनी मौत की भी चिन्ता नहीं होती।

समाहित भाव

ईश्वर ने ऐसे-ऐसे प्राणी बिल्कुल प्रकृति के वातावरण से मिलते-जुलते बनाए हैं कि वे सुरक्षित रहें। उनके शिकारी को उनका पता भी न चले। जैसे, हरी घास व हरे वृक्षों के अन्दर हरे साँप, भूमि में भूमि के रंग से मिलते-जुलते कीड़े-मकोड़े। इसी प्रकार प्रकृति में जहाँ जैसा रंग होता है वहाँ वैसे ही रंग के जीव-जंतु दिखाई पड़ते हैं। प्रकृति के साथ एक हो जाने पर फिर उनका व्यक्तित्व निजी तौर पर नहीं दिखाई देता, इससे उनकी जान बची रहती है। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने व्यक्तित्व को और अपने अहं को ब्रह्म में समाहित कर देते हैं, वे उसके साथ एकत्व प्राप्त कर लेते हैं, वे संसार के भयंकर उपद्रवों से बच जाते हैं। मनुष्य मारा भी तभी जाता है, जब इस साढ़े तीन हाथ के शरीर में अहंभाव कर अपने आपको अपरिमित एवं सब कुछ मानने लगता है।

तीन प्रकार की उपलब्धियाँ

जब मनुष्य अपने आपको छिपा कर, प्रकृति के साथ एक होकर रहता है, तब संसार में वह निम्न तीन प्रकार की उपलब्धियाँ प्राप्त करता है—(१) संसार से बचा रहता है, (२) उसके ऊपर किसी प्रकार का प्रहार नहीं होता, (३) वह अपनी साधना में संलग्न हो अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

जो मनुष्य साढ़े तीन हाथ के शरीर में अहंभाव कर उसी को 'मैं-मैं' कहता रहता है, उस मनुष्य का भी गला एक दिन मैं-मैं करने वाली बकरी की तरह कट जाता है।

अहंकार और अंधकार

मनुष्य अहंप्रधान होता है। वह प्रत्येक कार्य को अहं भाव से स्वार्थपूर्ण दृष्टि से करता है।

अहंकार एक आवरण है। एक दीपक के ऊपर हांडी को उलट दें तो दीपक में प्रकाश होते हुए भी अंधकार हो जाता है। अंधकार और प्रकाश के बीच में एक दीवार खड़ी हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप अन्धकार-ही-अंधकार छा जाता है। ऐसे अंधकार का ही दूसरा नाम अहंकार है।

तिल-तिल कर नष्ट होना

जहाँ अज्ञानता होती है, वहाँ अन्धकार होता है। दीपक के ऊपर हांडी दीपक को आक्सिजन से वंचित रखती है और दीपक अपने ही द्वारा उत्पन्न की गई कार्बन-डाइ-आक्साइड मैल से घिरे रहने से थोड़ी ही देर में बुझ जाता है। यह मैल ज्वलन में सहायक नहीं। इसी प्रकार अहंकारी मनुष्य अपने इर्द-गिर्द विकार के वातावरण खड़े कर लेता है जिससे उसकी प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है और उसमें दुःखी होता हुआ वह एक दिन इस संसार से कूच कर जाता है। इस प्रकार तिल-तिल कर जीवन भर हम स्वयं को नष्ट करते रहते हैं।

मनुष्य का अहंकार हर काम में आड़े आता है। जो मनुष्य अहंकारी होता है वह बात-बात में अपनी महत्ता दर्शाता है। वह “मैंने यह काम किया, मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ” इत्यादि डींगें मारता रहता है। वह यह भी समझता है कि यह सब काम मेरी ही वजह से हो रहे हैं। उसका न किसी पर विश्वास है न कोई उसके साथ काम करने को ही राजी होता है। सारांश यह कि कोई भी मनुष्य अहंकारी होना नहीं चाहता। अहंकारी से सब दूर रहना चाहते हैं। इसलिए अहंकार किसी भी काम में बड़ी बाधा है।

बालक सब को इसलिए प्रिय लगते हैं कि उनमें अहंकार नहीं। उनसे बात करने में प्रसन्नता होती है। वे सहज-सरल हैं। इसीलिए उनसे सब बात करते हैं, जिससे एक प्रकार की स्फूर्ति मिलती है।

अहंकार-त्यागी : आत्मशोधन

जो कार्य करने में कुशल हैं, उनकी कुशलता का मुख्य कारण यही है कि उनमें अहंकार की वृत्ति क्षीण होती है। वे दूसरों को प्रोत्साहन और बढ़ावा देते हैं। अगर कभी किसी आदमी से कोई गलती हो जाए तो उसे अपने सिर पर लेते हैं। अगर कभी कोई अच्छा काम हो जाता है तो मारी शाबाशी वे दूसरों को ही देते हैं। इससे दूसरों का दिल बढ़ता है और वे भविष्य में और अधिक प्रवीणता से काम करते हैं। वे जिनको शाबाशी देते हैं वे व्यक्ति हृदय से आभारी हो उनके पूरे सहयोगी हो जाते हैं। इसी प्रकार अहंकार का त्याग लोगों में यशदाता, आत्मशोधक और शान्ति-दाता होता है।

जिस प्रकार एक बल्ब पर काली स्याही लगा देने से उसका

प्रकाश विकसित नहीं होता उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा दो नहीं, एक ही है, पर परमात्मप्राप्ति तभी हो सकती है जब मनुष्य का अहं मिट जाता है। अहंकार मिट जाना ही परमात्मा का मिलना है। जब तक अहं है तब तक परमात्मा नहीं और जहाँ अहं नहीं वहाँ परमात्मा है। अतः हमें स्वार्थ और परमार्थ दोनों में अहं का त्याग करना चाहिये, तभी हम संसार के सच्चे मार्गदर्शक और स्वयं आत्मदर्शी हो सकते हैं।



जिमि कुपंथ पग

अज्ञानी बुराइयों से अपने मस्तिष्क को भरता जाता है पर ज्ञानी अच्छाइयों से उसे सजाता है। अज्ञानी विषयों में आनंद मनाता है पर ज्ञानी विषयातीत है। वह विषयों के साधनों के न रहने पर भी अपने आनंद में कोई अंतर महसूस नहीं करता। वह हरहालत में मन से सर्वत्र विरक्त ही रहता है अतः विषयों के भावाभाव ज्ञानी के लिए एक से रहते हैं पर अज्ञानी मांस, शराव, वेश्यागमन, लड़ाई-झगड़े, अहंभाव, इंद्रिय लोलुपता और विषयों में लम्पटपना रखता है। मनुष्य के ज्ञान पर जब पर्दा पड़ जाता है, तो वह अपने आपको खो बैठता है। वह विषयों के बहाव में बह जाता है। वह विषयों में आकण्ठ मग्न हो जाता है, और इसी में अपनी सफलता समझता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति नदी के बहाव में बह जाता है तो उसे पता ही नहीं होता कि मैं कहाँ बहा चला जा रहा हूँ, यही दशा विषयों के बहाव में बहने-वाले व्यक्ति की होती है।

प्रकृति का दण्ड

एक बार मुझे एक वृद्ध मिला जो विस्तर से उठ भी नहीं सकता था। उसने कहा कि मैंने अपना जौहर अपने हाथों बरबाद

कर दिया । वेश्यागमन, पर-स्त्रीगमन करते-करते तथा ऐसे ही अनेक जघन्य कृत्य करते-करते मेरी आज यह स्थिति हो गयी है कि आज मैं विस्तर से उठ भी नहीं सकता । प्रकृति ने मुझे मेरे कार्यों का ऐसा कठोर दण्ड इस प्रकार दिया है । आप मुझ अकेले को ही ऐसा न समझो । जवानी में बहुत से नवयुवक ऐसा करते हैं । किन्तु जब मोती का पानी उतर जाता है तो उसकी कीमत कौड़ियों की भी नहीं रहती । कामान्ध मनुष्य विवेकहीन हो, पाप कमा कर, तेजहीन हो जाते हैं । रामायण में काकभुशुण्डि जी ने गरुड़जी से कहा—

जिभि कुपन्थ पग धरे खगेशा,
रहे न तेज बुद्धि लवलेशा ।

हे गरुड़ ! कुपन्थ में पग रखते ही तेज और बुद्धि का लवलेश भी नहीं रहता । विषयी विषयानन्द की पूर्ति के लिए बुरे-से-बुरा काम करने को भी तैयार हो जाता है । विघ्न आने पर उसे क्रोध आ जाता है, क्रोध आने पर वह हत्या भी कर डालता है । इससे उसे फाँसी के तख्ते पर भी लटकना पड़ता है ।

कसौटी क्या है ?

एक कामान्धता ही क्यों ? कोई भी अविवेक हो—सभी अविवेक घोर अंधकारस्वरूप है, जिनसे बचने का एकमात्र उपाय है प्रकाश की ओर चलना । कोई भी कार्य धर्म और नीति की कसौटी पर कसकर करना । काम और अर्थ का उपभोग भी धर्मानुकूल ही होना चाहिये क्योंकि धर्म और कर्तव्य से विमुख होकर करने से तो फिर काम, काम नहीं रह जाता—वह कामा-भास हो जाता है ।

ये सारी बुरी बातें विवेकहीनता या मस्तिष्क के अंधकार से होती हैं। इस कारण पहले विवेकशक्ति को विशुद्ध बनाना चाहिये। विवेक के जाग्रत रहने पर कोई बुराई नहीं रह सकती। यदि बुराई बनती भी है तो प्रारब्धवश बनती है, जिसका कर्तापन विवेक को नहीं लगता।



अहंकृति की परिच्छिन्नता

अहंकृति की परिच्छिन्नता

ईश्वर की कृपादृष्टि सब पर समान हो रही है। उसी से सबके प्रयत्न सफल हो रहे हैं। परंतु अहंभावी पुरुष उसे समझ नहीं पा रहा है। वह तो अपने अहंभाव से ही अपने कार्यों की सिद्धि मानता है। वह उनमें ईश्वरीय संकल्प को नहीं सोच पाता है। जिस प्रकार एक माली अपनी अहंकृति की तुष्टि के लिए वर्षा होने पर भी पौधों को जल दे रहा हो ऐसी ही दशा ऐसे लोगों की है। ऐसे लोग अपनी परिच्छिन्नता के कारण अपने को सबसे निराला—भिन्न समझने लगते हैं।

जिस प्रकार एक गमले में पौधा अपने को अन्य पौधों से भिन्न माने और समझे कि मेरे गमले की मिट्टी अलग और औरों की मिट्टी अलग है और वह अपने गमले की उस मिट्टी को सब से निराली समझ इतराता रहे उसी प्रकार अपने को और अपनी चीजों को निराला समझनेवाला अपने अस्तित्व के और संसार के सामान्य व्यक्तियों के बीच अहंकृति की दीवार खड़ी कर लेता है।

वास्तव में तो उसके पौधे की मिट्टी अन्य पौधों की मिट्टी

से भिन्न नहीं। उसका जल, आकाश, वायु और सूर्य का तेज अन्य से भिन्न नहीं। वह सब के लिए एक है। इसी प्रकार वह मनुष्य भी अन्यो के समान एक मनुष्य ही है। ईश्वरीय संकल्प से ही वह सफल हो रहा है, पर उसने अज्ञानवश देह की अहंकृति में भूल कर अपने लिए एक परिच्छिन्न भावना की दीवार खड़ी कर ली है। वास्तव में मैं अलग और तू अलग ऐसा सोचना ही गलत है। यथार्थ में देखा जाय तो सभी जीवों के अन्दर एक ही आत्मा है, जिसको अंग्रेजी में 'युनिवर्सल सोल' (UNIVERSAL SOUL) कहते हैं। सभी के शरीर पंचभूतों के बने हुए हैं। सभी के लिये एक ही भूमि और एक ही वायुमण्डल है। उन्हीं में सभी रह रहे हैं। परस्पर कोई भिन्नता नहीं। किंतु मनुष्य की मान्यताएं ही उसे परिच्छिन्न बना देती हैं।

बूंद और दायरे

लोनावला स्थित तुलसी साधना कुटीर में एक सुन्दर तालाब है। एक वार मैंने देखा कि उसमें वर्षा की बूंदें पड़ रही थीं। हर एक बूंद अपना-अपना दायरा तालाब के अंदर बना रही थी। वे दायरे तालाब के अंदर एक-दूसरे से टकरा रहे थे। अब अगर पानी की प्रत्येक बूंद यह भावना बनाए कि "मैं और मेरा दायरा" भिन्न है, तो क्या उसका विचार यथार्थ होगा? नहीं, क्योंकि बूंद के रूप में भी वह जल ही थी और दायरे के रूप में भी वह जल ही है। जब दायरे एक-दूसरे से टकराते हैं तब भी वह जल ही है। इस कारण स्वरूपतः एक होने के कारण अपने-अपने दायरों की सभी कल्पनाएं मिथ्या हैं।

इसी प्रकार अहंकार मानव की परिच्छिन्नता बनाता है ।
अहंकार नहीं तो परिच्छिन्नता भी नहीं होती । यही कारण है
कि भवत और अध्यात्मनिष्ठ व्यवित अपने को अकिंचन समझा
करते हैं । अकिंचन भावना ही अभिमान को पास नहीं फटकने
देती ।



ਘੜ ਤੰਜ

ਕਾਮਨਾ

- काम, क्रोध, मद, लोभ की खान जब तक मन
में है तब तक पण्डित और मूर्ख में क्या भेद ? ●

—गोस्वामी तुलसीदास

भोग का रोग और राग की आग

मानव भोग-विलास की पूर्ति की अग्नि में सदा जलता रहता है। जब पूर्ति नहीं होती तो बीच में आनेवाली बाधाओं पर क्रोधित हो उठता है। क्रोध से मनुष्य उद्विग्न होता है और चित्त में विभ्रम उपस्थित हो जाता है। फिर उसे कुछ भी याद नहीं रहता। वह सदा चिन्तातुर बना रहता है। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'चिता तो मृतक को जलाती है, किन्तु चिन्ता जीवित को ही सदा जलाती रहती है।' जैसे एक पर शून्य (०) लगा देने से दस हो जाता है उसी प्रकार चिता के 'चि' के ऊपर बिन्दी लगा देने से चिन्ता बन जाती है, जो कि चिता से दस गुनी बड़ी-चढ़ी जलानेवाली होती है।

द्वेषाग्नि की लपट

भोग के कारण ही राग-द्वेष होते हैं। जिसके प्रति राग होगा उसको भोगने की इच्छा भी होगी। उस इच्छा की पूर्ति में जिससे रुकावट होगी, उसके प्रति द्वेष अवश्य हो जायेगा। वह द्वेषाग्नि की लपट में जलेगा। यहाँ मनुष्य का अपना ही मन प्रथम दुर्मनी भाव को प्राप्त होकर फिर सामने वाले विघातक पुरुष को दुश्मन करके दिखलाता है। वही मनुष्य दुश्मन के रूप में प्रतीत होता

है। दुश्मन को मारने, हानि पहुँचाने की वह योजनाएं बनाता रहता है। उसका मन एक ऐसे चक्कर में पड़ जाता है जिससे निकलना मुश्किल हो जाता है, उसे कुछ और दिखायी नहीं देता। सदसद्विवेक हाथ से छूट जाता है। केवल वासना की ही वह उचित-अनुचित सभी राहों से पूर्ति कर लेना चाहता है। द्वेषाग्नि मनुष्य को समाप्त कर देती है।

कामाग्नि की प्रचंडता

कामाग्नि की प्रचंडता ऐसी है कि यह एक ही जन्म तक नहीं अनेकों जन्म तक एक सी रहती है। प्राणियों की देह बदल जाती है पर वे अतृप्त वासनाएँ नहीं बदलतीं जिनके पीछे पहले जीवन का अन्त हो गया रहता है। चाहे स्वयम् किसी भी देह में एवं चाहे पूर्वजन्म की अमर चाह की वस्तु भी किसी रूप में हो। योगवासिष्ठ में एक कथा आती है कि एक व्यक्ति तीन जन्म तक भी अपनी प्रेयसी को नहीं भूला था। चन्द्र वंश का विधाता पुरुरवा अन्त में अपनी आहुति देकर भी उर्वशी के पास पहुँचा था।

साधना के द्वारा गुरु इसकी निवृत्ति कराते हैं। यही कारण है कि राजा भर्तृहरि को गुरु गोरखनाथ ने रानी पिंगला के पास भिक्षा माँगने को भेजा था। रागद्वेष की निरन्तर निवृत्ति और अविचल वैराग्य-विवेक मिल जाय तो व्यक्ति हर स्थिति में मुक्त ही है।

गुरु की कृपा और भगवान की अनुकूलता से विवेकवादी मनुष्य कामाग्नि को शांत कर सकता है, अन्यथा जन्म-जन्मांतरों में भी यह शांत नहीं होती।

मोह का डंक

संसार-सागर में मोह के तूफान में फंसनेवाले मनुष्य को यदा-कदा ही किनारा मिलता है। अन्यथा मोह संसार-सागर में एक भयंकर तूफान-सा है, जिसके अंदर जीवनरूपी नैया सदा डोँवा-डोल होती रहती है। उसमें विवेकरूपी चप्पू पूरा काम नहीं करता। न धैर्यरूपी पाल ही स्थायी रह पाता है। वह भी मोह के तूफान के थपेड़ों से फट जाता है। इसके प्रबल वेग में किनारा भी नजर नहीं आता। संसार में ऐसी ही परिस्थिति मोहग्रस्त मनुष्य की हो जाती है जिसे कहीं भी मार्ग नहीं दीखता। अन्धकार ही अन्धकार सामने दीखता है। मोह किसी एक व्यक्ति के प्रति उत्कट अन्धतम राग और द्वेष का विवेकहीन जोड़ा है। जहाँ राग होगा—वहाँ राग के व्यवधान में द्वेष भी अवश्य होगा। रागी अपने मार्ग के कंटक को मिटाने के लिये भी विवेकहीन हो जायगा। इसी प्रकार राग-द्वेष के चक्कर में ही मनुष्य की जीवनरूपी नौका डूब जाती है। सारा जीवन तड़पते ही बीतता है। वह संसार-सागर को नहीं तर पाता।

एक घटना है कि एक माता अपने मकान की छत पर खड़ी

थी। किसी ने उसको आवाज दी कि तुम्हारे बच्चे को साँप ने डस लिया है। वह सुनते ही वहीं पर बेहोश हो कर गिर पड़ी। थोड़ा-थोड़ा होश आने पर वह बेचारी रोती-चिल्लाती, बिलखती अपने आपको घसीटती-घसीटती सीढ़ियों से नीचे उतरने लगी। नीचे आने पर किसी ने उसे बताया कि वह लड़का जिसको साँप डस गया था, उसका नहीं वरन् उसके पड़ोसी का लड़का था। इतना ज्ञात होना था कि उसका सारा दुःख-दर्द मिट गया, वह प्रसन्न हो गई।

हम इस घटना की तह में जायें। क्या कारण था कि वह पहले रो रही थी और फिर हंसने लगी? साँप ने तो किसी के लड़के को डसा ही था। साँप के काटने की खबर सुनकर माता जो दुःखी, बेहोश और बेचैन हुई उसका कारण था उसका अपने बच्चे के प्रति मोह, किन्तु नीचे आने पर यह स्पष्ट हो गया कि साँप ने इसके बच्चे को नहीं किसी और के बच्चे को काटा है, तो उसे जिस कारण दुःख हो रहा था वह कारण न रह जाने पर उसकी वेदना समाप्त हो गयी और वह हँसने लगी।

डंक गहरा

जिसका लड़का मर जाता है वह मनुष्य कहता है कि 'हाय में मर गया।' वह लड़के के मरने के धर्म को अपने में मान लेता है। यह सामान्य अनुभव है कि सर्वसाधारण मनुष्य देह के मरने के धर्म को अपनी आत्मा का धर्म मान लेता है। इसी कारण वह लड़के के मरने को अपना मरना मानकर बुरी तरह रोता-बिलखता है। मोह का डंक बहुत गहरा होता है। यहाँ तक कि किसी का पैसा चला जाता है तो वह भी यह कहता हुआ

सुना जाता है कि 'हाय रे मैं मर गया।' वह पैसे के साथ इतना जुट जाता है कि पैसे के अभाव में अपना अभाव समझता है। मोहान्ध की आंखों पर पट्टी बँधी रहती है। फिर उसे मोह के मारे कुछ भी दिखायी नहीं देता। वह कोल्हू के बैल की तरह सदा चक्कर काटता रहता है। जीवन वर्बाद कर वही मोह में पड़ा-पड़ा मर जाता है।

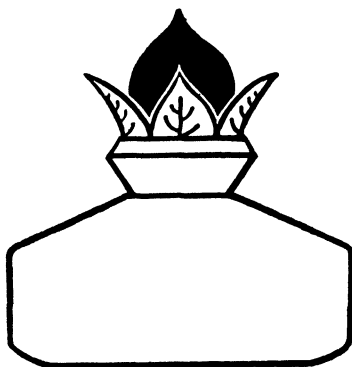


अतृप्त कामनाएं

कामनाओं में जकड़ा मानव अपनी आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता। ये कामनाएं उस विषैले सर्प की तरह हैं जिसके एक बार उसे जाने से मनुष्य फिर उठ नहीं सकता। विषैले सर्प का जहर तो कभी मंत्रों और दवाइयों से उतर भी जाता है किन्तु कामना-तृष्णारूपी सर्पिणी का विष जन्मजन्मांतर तक साथ जाता है। यही बंधन का मुख्य कारण है। मानव के मन में कामनाएं पानी पर तेल की तरह फैलती हैं। कामना है कमी में तथा जब कभी भी मनुष्य अपनी कमी का एहसास करता है, तभी कामना उठती है। पुरुष अपने में कमी का एहसास करता है और सोचता है कि 'यह कमी स्त्री पूर्ण करेगी' और इसी प्रकार स्त्री अपने में कमी का एहसास करती हुई सोचती है कि 'मेरी इस कमी को मेरा पुरुष पूरा करेगा।' इसी प्रकार एक-दूसरे से अपेक्षा करते-करते उनका सारा जीवन व्यतीत हो जाता है, किन्तु कामना की तृप्ति नहीं होती अपितु वह बढ़ती ही जाती है।

कामना की पूर्ति से तृप्ति की आशा उसी प्रकार की है जिस प्रकार पेट्रोल से आग बुझाने का प्रयत्न। पेट्रोल से आग बुझती

नहीं, भड़कती ही है। इसी प्रकार कामना की पूर्ति से कामना और भी अधिक वेग से बढ़ती है। इनके मारे मनुष्य विवश हो पराधीन हो जाता है। मस्तिष्क पर अज्ञान का पर्दा-सा छा जाता है। कामनापूर्ति के अतिरिक्त उसे और कुछ संसार में नहीं दीखता। अतृप्त कामनाएं अन्त में चलकर जन्मजन्मांतरों का कारण बन जाती हैं। यही कारण है कि विवेकी मन जो कुछ उन्हें किसी प्रकार प्राप्त होता है उसे भगवत् प्रदत्त मान कर भगवान के लिये उपभोग में लाते हैं। संसार की प्रवृत्तियाँ भी उनकी दृष्टि में भगवान की आज्ञा के अनुसार ही चलती हैं। वे अपना कर्तृत्व ही समाप्त कर देते हैं। अतः कामनाओं के केन्द्र होने से बच जाते हैं।



जो देता है, सो पाता है

इंग्लैंड की राजधानी लंदन में एक धनी ने अपने बैंकर के पास जाकर कहा कि मैं आपसे एक बहुत बड़ा कर्ज लेना चाहता हूँ । यह कहकर उसने अपनी स्कीम बैंक मैनेजर को सुनायी । मैनेजर ने सुनकर उसे पांच लाख पाँड का कर्ज दे दिया । इस धनी मनुष्य ने आकर ऐसी एक बेकरी खरीद ली जो कि बिलकुल बंद पड़ी हुई थी और जिसका काम ठप्प था । इस डबल रोटी बनाने के कारखाने में पहले दिन तो इसने डबल रोटियों के अन्दर सैकड़ों गिन्नियाँ और हजारों पांच और ढाई शिलिंग के सिक्के डाल दिये । डबल रोटी का पत्रों द्वारा खूब विज्ञापन किया । विज्ञापन के परिणाम-स्वरूप उन डबल रोटियों की मांग बहुत हुई और जब लोगों ने घर में ले जाकर वे डबल रोटियाँ काटीं तो किसी में सोने की गिन्नी तो किसी में १० शिलिंग और किसी में पांच शिलिंग के सिक्के उनके हाथ लगे । ये डबल रोटियाँ ६ पेनी में बेची जा रही थीं । रोटियों को खरीदकर लोग बड़े प्रसन्न हुए ।

यह चर्चा देश भर में फैल गयी । दूसरे दिन कुछ कम और तीसरे दिन उससे कम सिक्के डालकर वह डबल रोटियाँ बेचता

रहा । उसकी डबल रोटी प्रख्यात हो गयी । उस बंद बेकरी का अपनी बुद्धि द्वारा उसने संचालन कर उसे फायदेमंद बना लिया । धीरे-धीरे उन डबल रोटियों की बिक्री भी इतनी बढ़ी कि वह मालामाल हो गया ।

देना निरर्थक नहीं

इस प्रकार जो लोग देना जानते हैं, वे लोग फायदे में ही रहते । देना कभी निरर्थक नहीं जाता । देना कई गुना वनकर वापस लौटता है । देने में संकोच करनेवाला व्यक्ति घाटे में ही रहता है । जो देता है वही पाता है । इसके साथ हमें यह भी शिक्षा मिलती है कि विवेकशील लोग अपने विवेक द्वारा प्रतिकूल परिस्थितियों को भी अपने अनुकूल बना लेते हैं । विवेक ही मानव का सच्चा साथी है । जो इसका उपयोग करना जानता है वह सदा विजयी रहता है । अतः विवेकपूर्वक देना भी उससे अनन्त गुने पाने का ही मार्ग है ।



असंतोष का जन्म

एक अमीर घराने की स्त्री ने नई डिजाइन की सोने की चूड़ियां बनवायीं। वह उन्हें पहनकर अपनी गरीब सहेली के घर उसे बताने के लिए चली गयी। वहां उसने अपनी चूड़ियों की बहुत प्रशंसा की। कहा कि यह बिलकुल नयी डिजाइन की चूड़ियां हैं। इस तरह की चूड़ियां अब तक किसी ने नहीं बनवायी हैं। यह सब कहते हुए वह फूली नहीं समाती थी। दूसरी स्त्री ने कहा कि बहन, इन चूड़ियों का आजकल कहां जमाना है? आजकल की पढ़ी-लिखी स्त्रियां तो घड़ी पहनती हैं, जो शोभा का कारण भी है और समय-समय पर समय भी बताती है। यह देख मेरी घड़ी कितनी अच्छी है।

इतना सुनते ही आगंतुक स्त्री के पांव के तले से मिट्टी खिसक गयी। उसे अपनी चूड़ियों में घड़ी का अभाव खटकने लगा। वह बेचैन हो गयी।

यहां सोचने की बात यह है कि उसको बेचैन किसने किया? असंतोष ने या अभाव ने? जब तक उसने अपनी चूड़ियों में संतोष माना तो वह अत्यन्त प्रसन्न थी पर जब उसकी चूड़ियों में

घड़ी का अभाव खटका तो असंतोष ने जन्म लिया और चित्त में एक विषमता खड़ी हो गयी ।

इसी प्रकार हमारा मकान चाहे कितना भी सुन्दर हो और आधुनिक सुविधाएं उसमें हों किन्तु कोई पड़ोसी इससे भी ज्यादा नये फैशन का मकान बना ले तो अपने यहाँ सब कुछ रहते हुए भी हम उसके मकान को बड़ा-चढ़ा मानते हुए मन में विक्षेप लाना शुरू कर देते हैं । यहां तक कि हमारे भाव बिखर जाते हैं एवं अभाव हमें खटकने लग जाते हैं । संतोष चला जाता है ।

संतोष परम धन

जब हम अपने कामों को और विचारों को विवेक की कसौटी पर परखते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि यही हमारा अज्ञान है, यही हमारी भूल है । भगवान ने जो जीवन के साधन अपने को दिये हैं उन्हीं में हमें संतुष्ट होना चाहिये । किसी को किसी से क्षुब्ध प्रतिस्पर्धा नहीं करनी चाहिये । यही असंतोष का कारण बनती है और असंतोष भयंकर विक्षेप का कारण होता है । भगवान मालिक है । वे जैसे रखें हमें वैसे ही रहना चाहिये । किसी को देखकर ललचाना नहीं चाहिये ।

मानव-हृदय : रीते का रीता

बढ़ती हुई चाह

मनुष्य का हृदय ऐसा बना हुआ है कि उसमें दुनिया भर के पदार्थ भी डाल दिये जायें तो भी वह नहीं भरेगा। जितने पदार्थ बढ़ते हैं उतनी ही चाह भी हृदय में बढ़ती चली जाती है। जितने भोग बढ़ते हैं, उतनी ही भोग की वासना भी बढ़ जाती है।

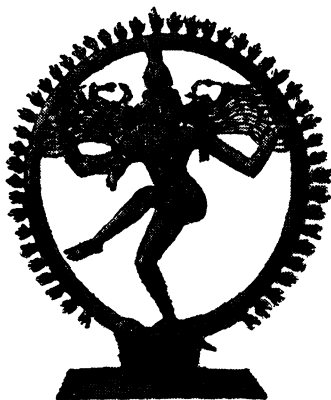
रहस्यमय कांसा

एक राजा के यहां लंगर लगा हुआ था। लंगर को बंटवाने के लिए राजा खुद खड़ा था। कतार में लंगर पाने के लिए एक साधु भी आया और उसने अपना कांसा आगे कर दिया। राजा ने सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ उसमें डाले, किन्तु साधु का कांसा भरा नहीं। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह साधु कोई जादूगर तो नहीं? राजा ने उस कांसे के अंदर भांति-भांति के रत्नाभूषण लाकर उसे भरने की कोशिश की। किन्तु राजा का यह प्रयत्न भी निष्फल गया। अन्त में राजा ने अपना ताज भी साधु के कांसे में डाल दिया। तब भी साधु का कांसा नहीं भरा।

राजा ने बड़े विनय भाव से उस फकीर से कांसा न भरने का

रहस्य पूछा । साधु ने बताया कि यह कांसा मनुष्य के हृदय का बना हुआ है । इसमें कुछ भी कितना ही डालते रहो पर यह कभी भरता नहीं । स्त्री, पुरुष, धन-सम्पत्ति, वैभव सभी इसमें समा जाते हैं । फिर भी यह रीता का रीता ही रहता है ।

संसार के जितने भी पदार्थ हैं सब क्षणिक हैं, नाशवान हैं, सर्वथा एवं सदा ही अपूर्ण रहते हैं । पदार्थों की अपूर्णता इस कांसारूपी हृदय को पूर्णतया कभी नहीं भर सकती । इसको भरने का एक-मात्र उपाय है, वह है पूर्णानन्द की प्राप्ति । मनुष्य का निजानन्द—नित्यानन्द—पूर्णानन्द जब उस हृदय में पड़ेगा तभी वह पूर्णता का अनुभव करेगा ।



छाया और माया

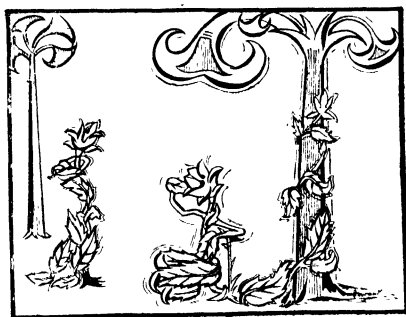
एक छोटे से बच्चे ने एक दिन सूर्य के प्रकाश में खेलते हुए अपनी छाया देखी। वह अज्ञानी बालक उस छाया का सिर पकड़ने की कोशिश करने लगा; किन्तु जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता, वह छाया दूर होती चली जाती। यही हालत हम मनुष्य की है। हम माया के पीछे दौड़ रहे हैं किन्तु वह हमारी पकड़ में नहीं आती। आगे-आगे ही भागी चली जाती है।

महापुरुष से भेंट

पिता के जीते जी उसके पुत्र की मृत्यु हो जाती है। स्त्री चली जाती है। धन चला जाता है। यहाँ तक कि वह जितना भी उनके पीछे भागता है, उतना ही सब कुछ उससे छूटता जाता है। आखिरकार उसकी अवस्था ऐसी हो जाती है कि वह थककर हताश होकर रोने बैठ जाता है। बिरला ही महापुरुष ऐसा मिलता है जो बालक को यह बतला देता है कि अपना हाथ सिर पर रखने से अपनी छाया के सिर पर हाथ रखा जा सकता है और इस प्रकार वह उसे धीरे-धीरे आत्मानंद का अनुभव करवा देता है।

यदि ऐसा हो तो संसार के सारे क्लेश मिट जायें। वह बालक

बालक न रहकर विश्व का भूषण बन जाये। पर ऐसा होता नहीं। हम बालकों को अध्यात्म न देकर संसार देते हैं। यह भी नहीं करते कि ज्ञानपूर्वक संसार संभलवायें। प्राचीन काल में ऐसा होता था कि मां-बाप बालकों को जगत, जीव और जगदीश्वर तीनों का मर्म बताया करते थे। आज भी आवश्यकता है कि हम अपने बालकों को जगत, जीव और ईश्वर का मर्म समझाकर सुयोग्य बनाएँ। वे छाया सरीखी माया के मोह से बच जायें।



विषय-सुख : मृगतृष्णा

मरु-मरीचिका (रेत में पड़ी सूर्य की किरणों के कारण दीखने-वाला असत्य जल) से प्यास नहीं बुझाई जा सकती क्योंकि वह पानी नहीं किंतु दूर से दीखनेवाला पानी का आभास मात्र है । इसी प्रकार विषयों से सुख-शांति की प्राप्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि विषयों में सुख का आभास मात्र ही है—वास्तव में सुख-शांति नहीं ।

निःशेष जीवन-ज्योति

मरुभूमि में बालू के कण सूर्य के ताप से उत्पन्न हो कर हवा को भी गर्म कर देते हैं । तभी तो गरम हवा हल्की होने के कारण वायुमंडल में ऊपर को उठती है, ऊपर की वजनदार हवा नीचे की ओर आती और जाती है । गरम हवा का ऊपर जाना और शीतल हवा का नीचे आना बालू के अन्दर लहरें-सी पैदा कर देता है, जिससे दूर से बहते हुए पानी की लहरों की भ्रांति उत्पन्न हो जाती है । जो अनजान व्यक्ति होते हैं वे अपनी प्यास बुझाने के लिए लोटा लेकर निकल पड़ते हैं, किंतु दूर से दूर जाने पर भी कहीं उन्हें जल की एक भी बूंद प्राप्त नहीं होती । वे हताश हो नितान्त थककर वहीं गिर पड़ते हैं । बालू के कण में कभी न तो जल था,

न ही है, और न होगा ही। किंतु इसकी भ्रांति बहुतों के प्राण-हरण का कारण अवश्य बन चुकी है। तभी तो मृगों के झुंड-के-झुंड प्यास लगने पर मृग-जल की ओर भाग जाते हैं। वे भागते-भागते अपनी शक्ति का ह्रास कर, अपने आपको वहीं समाप्त कर देते हैं। वे प्यासे ही मरते हैं। उनकी प्यास नहीं बुझती। हां, उनकी जीवन-ज्योति अवश्य बुझ जाती है।

सुख की खोज में

यही हालत संसार में इंद्रिय भोग से सुख की आशा रखनेवालों की भी है। वे भी सुख की खोज में विषयों में भटकते हैं। कभी सोचते हैं कि स्त्री मिल जायगी तो मैं सुखी हो जाऊंगा। कभी सोचते हैं कि धन मिल जायगा तो मैं सुखी हो जाऊंगा। स्त्री और धन दोनों मिल जाने पर संतान की आशा बन जाती है। वह सोचता है कि संतान हो जाने पर मैं सुखी हो जाऊंगा; किंतु सदा आशा में निराशा ही रहती है। आज तक विषयों में न किसी को पूर्ण सुख मिला है और न मिलेगा ही। विषयों में सुख प्राप्ति की भ्रांति मनुष्य को विषयों में भटका अवश्य रही है, जिससे उसका जीवन-लक्ष्य अटक जाता है। जो विषय जितना सुखादायी प्रतीत होता है वह आगे चल कर उतना ही दुःखदायी सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, अनन्त काल तक दुःख का कारण भी बना रहता है।

वस्तुतः विषयों में नहीं बल्कि सुख तो वास्तव में मन की शान्ति से बंधा हुआ है। विषय-सुख तो मृगतृष्णा के समान भटकाने वाले हैं।

मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की

सांसारिक अग्नि से बच निकलने का एकमात्र उपाय है—‘आत्मा की तीव्र जिज्ञासा ।’ जब तक मनुष्य में तीव्र जिज्ञासा नहीं होगी वह संसाररूपी अग्नि से बच नहीं सकता । भोग-वासना में पड़े हुए मनुष्य कामाग्नि को भोग के द्वारा शान्त करना चाहते हैं । किन्तु वह कामाग्नि भोगों के भोगने से और भी अधिक प्रज्वलित हो जाती है और कभी शान्त नहीं होती । यदि जलती हुई आग में लकड़ियों के डालने से आग बुझ सकती तो भोगों के भोगने से भोगेच्छाएं शांत होने की संभावना की कल्पना की जा सकती है । भोगेच्छाओं की पूर्ति से वे बढ़ती ही हैं कम नहीं होतीं, साथ ही शरीर भी निस्तेज हो जाता है । भगवान् कृष्ण का भी यही सिद्धान्त है । सभी दार्शनिक भी ऐसा ही मानते हैं । किसी कवि ने भी ठीक ही कहा है कि—

बिसाले यार से दूना बढ़ा रश्क,
मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की ॥

कहीं अग्त नहीं

संसार में सब जगह दुःख ही दुःख है । अपमान का दुःख, भोगविलास की तृप्ति न मिलने का दुःख, पदार्थों के अभाव का

दुःख, अपने व्यक्तित्व की कमी का दुःख । इनके सिवा और भी कई प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दुःख हैं जो कि मनुष्य को सदा घेरे रहते हैं । भोग में रोग छिपा हुआ है । हम ज्यों-ज्यों भोगों के भोगने में मस्त होते हैं, त्यों-त्यों रोग से ग्रस्त होते चले जाते हैं । मनुष्य के पास जितना ही पैसा आता है वह उतना ही लालची होता चला जाता है । हमने करोड़पतियों को चार आने पैसे के लिए स्टेशन पर कुलियों के साथ गाली-गलौज करते देखा है । उनके हृदय में उदारता, प्रियता, प्रसन्नता रहती ही नहीं है । सदा लोभ का ही साम्राज्य बना रहता है । लोभाग्नि कभी शान्त नहीं होती ; किन्तु ज्योंही मानव के हृदय में आत्म-प्राप्ति की जिज्ञासा का उदय हो जाता है, वह संसाराग्नि में दग्ध करनेवाले पदार्थों का स्वतः ही त्याग कर देता है ।

जिस मनुष्य को धन और भोगों का लोभ आत्म-विमुख करता है उस तीव्र जिज्ञासा ही सद्मार्ग से लगा सकती है ।

तीव्र जिज्ञासा

तीव्र जिज्ञासा के साथ-साथ आत्म-अनात्म का विवेक बढ़ता जाता है, जो कि अनात्म पदार्थों के प्रति लिप्सा को क्रमशः मन से बाहर करता जाता है । उस समय तीव्र जिज्ञासा के साधन वैराग्य आदि ही मन में रह जाते हैं । मानव के उद्धार के साधन अभ्यास और वैराग्य मुख्य हैं । यदि वैराग्य हो जाये तो अभ्यास की भी विशेष आवश्यकता नहीं रहती । वैराग्य मन को आप निर्विषय बना देता है ।

खण्ड चार

कालचक्र

● जैसे प्रवाह के वेग में एक स्थान की बालू अलग-अलग बह जाती है और दूर-दूर से आ कर एक जगह एकत्र हो जाती है, ऐसे ही काल के द्वारा सब प्राणियों का भी वियोग और कभी संयोग होता है । ●

—देवर्षि नारद

अखंड काल

काल स्वतः ही स्वरूप से अखंड है, एक है। उसमें किसी प्रकार का विभाग नहीं। काल का विभाजन कल्पित है। वह मनुष्य का अपना ही बनाया हुआ है। मनुष्य ही अपने काम के लिए निमेष से लेकर सृष्टि के निर्माण के समय तक पहुंचता है। अन्त की भी सीमा बांधता है। जीव-आत्मा में जो द्रष्टापन है, वह कालातीत एवं काल से भी परे है। जिस प्रकार लकड़ी को गोल काट कर बाहर खांचे कर दिए जायें और वह खांचा धीरे-धीरे घुमाया जाये तो द्रष्टा को काल वही रहते हुए भी चक्कर में खांचों के विभाजन के कारण काल में विभाजन प्रतीत होता है। द्रष्टा में न काल है और न काल का विभाजन है, पर संसार में सभी प्रकार के विभाजन माने जाते हैं। ये सभी विभाजन भूमि की परिच्छिन्नता, कालकृत परिच्छिन्नता और वस्तु की परिच्छिन्नता पर निर्भर हैं। सभी देश, काल और वस्तु के विभाजन को लेकर विभक्त होते हैं। इस भेद को जो इससे विभक्त हैं उनके लिये एक तरफ छोड़ दिया जाय तो द्रष्टा में कोई विभाजन नहीं रह जाता है, वह ज्यों का त्यों रहता है। हर देश, हर काल, हर परिस्थिति में वैसे का वैसे ही है। परिवर्तन दृश्य में है, द्रष्टा में नहीं। जो दिख-

लाई देता है वह देखता नहीं और जो देखता है वह दिखता नहीं । यह वेदान्त का अटल सिद्धान्त है । वैज्ञानिक युक्ति से भी यह बात सिद्ध है कि दृश्य ही चक्कर काट रहा है, द्रष्टा नहीं । द्रष्टा अपने अस्तित्व को अपने आपे के रूप में अपने आप से आप ही देख रहा है ।

काल की चाल

काल की चाल अडिग होती है । तभी तो लोग कहा करते हैं कि “काल और ज्वार-भाटा किसी के रोके नहीं रुकते ।” असंख्य प्राणी काल के गाल में गये और चले जा रहे हैं । समुद्र में जिस प्रकार ज्वार-भाटा आता है, ऐसे ही मनुष्य के जीवन में क्रमशः जन्म-मृत्यु के समय आते हैं । मनुष्य का जो जन्म है वह मृत्यु का ही प्रमाण है । जो जन्मेगा वही एक दिन विनाश को भी प्राप्त होगा । पर आत्मा जो अविनाशी है उसका मृत्यु भी कुछ नहीं बिगाड़ सकती । मृत्यु के बाद भगवान जीर्ण-शीर्ण काया के बदले नयी काया देते हैं (जीर्णानि-शीर्णानि यथा विहाय-गीता) । वृद्धावस्था में जब काया एकदम रोगग्रस्त, जीर्ण-शीर्ण तथा अस्वस्थ हो जाती है तो भगवान पुरानी पोशाक की तरह जीर्ण-शीर्ण देह को बदलकर नये जन्म के रूप में नयी पोशाक की तरह नया शरीर दे देते हैं । किन्तु जीव उनकी दयालुता को कोसता है । अगर कहीं सब वृद्ध, रोगी, अस्वस्थ और जीर्ण-शीर्ण लोग मरें नहीं, अमर बने पड़े ही रहें तो संसार में तिल-भर जगह न रहे । लोग दुःख के मारे व्याकुल हो जायें । मरना भी जीव के कल्याण के लिए ही है, क्योंकि इसके बाद देही को नूतन देह मिल जाती है । वास्तव में मृत्यु तो उसकी होती है जो देह से आसक्ति

रखता है। सारा दिन उसे सजाना, खिलाना-पिलाना, सुंदर समझना इत्यादि मनुष्य के अन्दर देह-भाव उत्पन्न करते हैं। जिसकी देह में अपनपे की बुद्धि होगी मृत्यु भी उसी की होगी, पर जिसने अपने आपको देह से परे अजर-अमर आत्मा जान लिया है उसकी कभी भी मृत्यु नहीं होती :

**आशिक जो तेरे नाम के
वे कभी नहीं मरते हैं।**

देह और देही

आत्मा तो इस जन्म के पहले भी थी और मनुष्य के मरने के बाद भी रहती ही है। वह कभी मरती नहीं, सदा अजर-अमर रहती है। इस कारण जिसने अपने आपको आत्मा करके जाना है, उसकी कभी मृत्यु नहीं होगी। क्योंकि वह अपने को देह से भिन्न समझता है। देह में देही तो अविनाशी है, अजर है, अमर है पर देह विनाशी है, जरा-मरण को प्राप्त होनेवाली है। इस कारण जिन लोगों ने कभी सत्संग नहीं किया उनको आत्मा-परमात्मा की बात भाती नहीं, वे तो देह को ही सब कुछ मानते हैं। उनकी सदा संशयात्मक वृत्ति बनी रहती है। वे और किसी तत्त्व को सत्य मानें या न मानें किन्तु मृत्यु तो उन्हें प्रत्यक्ष एवं साक्षात् सत्य भासती है। इससे कभी-कभी उनके अन्दर भी विचार उठता है कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो कि इस संसार का नियंत्रण कर रही है। चाहे उसे जिस नाम से पुकारा जाये, वह तो सर्वत्र एक है।

नाम और नामी

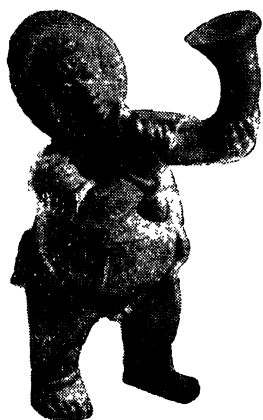
भिन्न-भिन्न नामों के होने के कारण भी नामी कभी भिन्न नहीं होता। वह सबका एक ही वाच्य रहता है। मृत्यु के भय से भी

संसारी लोगों के अन्दर प्रायः पाप करने की वृत्ति कम हो जाना संभव है, किन्तु उनकी समझ में सिर पर नाचती हुई मृत्यु आ जानी चाहिये। तभी तो उपनिषदों ने मृत्यु के भय को भी संसारियों के सामने रखा है। संसारियों में एक बड़ा दोष यह है कि उन्हें आगे-पीछे संसार ही सत्य भासता है। किन्तु जब कभी घर का कोई मर जाता है, तो 'राम नाम सत्य है'—यह कुछ काल के लिए सत्य प्रतीत होता है। जब संसारी किसी की शवयात्रा के साथ जाते हैं तो कुछ काल के लिए उनके अन्दर क्षणिक वैराग्य भी उत्पन्न हो जाता है, जिसे श्मशान वैराग्य कहते हैं क्योंकि यह श्मशान में ही मनुष्य के मन में उत्पन्न होता और फिर नहीं रहता। शवयात्रा में चलनेवाले वैराग्य की ही चर्चा करते चलते हैं, कि संसार में कुछ नहीं है, जीवन-मरण प्रभु के हाथ है, मनुष्य का शरीर जन्मने-मरनेवाला है, जीवात्मा अमर है इत्यादि। किन्तु श्मशान से मुंह फेरते ही और घरों की हवा लगते ही उनकी वे भावनाएँ बदल जाती हैं। फिर वे वही कौतुक करने लग जाते हैं जो वे पहले करते थे।

भूतजीवी

शव को जब अन्त्येष्टि के लिए ले जाते हैं, तो उसके पांव आगे और सिर पीछे को करते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि जीवित मनुष्य देखता आगे है और सामने चलता हुआ भी आत्मा से पीछे की सोचता है। गत काल की सोचता है। इसी कारण वह गत या मृतक है। इस तरह जो मनुष्य भविष्य की न सोचकर भूतकाल की ही सोचते रहते हैं वे जीवित रहते हुए भी मृतक की ही तरह जीते हैं।

श्मशान से लौटते समय रिश्ते-नाते एवं सगे-संबंधी बैठकर तिनका तोड़ते हैं। साथ में यह भी कहते हैं कि 'तिनका टूटा रिश्ता छूटा'। ये संबंधी सभी देह के संबंध से हैं। जो देह को 'मैं' मानता है, वह संबंधियों को भी 'अपना' मानता है, पर जो देह को 'मैं' नहीं मानता वह देह के संबंधियों को भी 'अपना' नहीं मानता। वह अपने आपको सब से जुदा समझता है। पर यह बुद्धि तो भगवान के कुछ ही प्यारों को प्राप्त होती है। जिन्हें प्राप्त हो गई उनका यहीं कल्याण हो जाता है। वास्तव में संसारासक्त मरते हैं। भगवान के नाम के आशिक तो सदा अमर है। उनका आत्मिक सम्बंध भगवान से है, देह से नहीं है। उनका काल कभी खंडित नहीं होता, वे कभी कालछिन्न नहीं होते। काल-शेष उनके निमित्त है जो देहमात्र की कालावधि की संज्ञाभर रखते हैं।



कालचक्र

कालचक्र पंचभौतिक शरीर को रूपान्तरित करता रहता है। जन्म के समय नवजात शिशु का शरीर अतीव नाजुक, कोमल, छोटा और भार में दो-चार सेर से अधिक वजनदार नहीं होता। धीरे-धीरे वह ऐसा भारी हो जाता है कि गोद में उठाना भी भारी लगता है। बाद में वह स्वयं चलने-फिरने लगता है।

फिर वह युवक होकर लम्बा-चौड़ा दो मन भार का हो जाता है। पर यह मस्ती की अवस्था भी सदा नहीं रह पाती। काल इसे भी बदलने लग जाता है और परिवर्तित करते-करते एक लकड़ी के सहारे चलनेवाले जीर्ण-शीर्ण वृद्ध के रूप में बदल देता है। एक दिन फिर उसे हिलना-चलना भी कठिन हो जाता है। काल स्वयं काल होकर कवलित कर लेता है। बाल्य, यौवन और वार्धक्य समय पर एवं काल के प्रताप से ही प्राप्त होते हैं। ये अवस्थाएं अपने कुछ विशिष्ट गुण लेकर बारी-बारी से आती हैं और अपना समय पूरा हो जाने पर चली भी जाती हैं।

युवावस्था

बाल्यावस्था में मनुष्य विवेकहीन रहता है। इसमें प्रायः अपरिपक्वता, विवेकहीनता, नासमझी और मूर्खता इत्यादि विकार

रहते हैं। बालक में शक्ति भी बहुत सीमित रहती है। बालक की जब इच्छा पूरी नहीं होती है तो वह क्लेश करता और रोता-पीटता है। बालक अपने अनजानपन के कारण भयभीत रहता है। कोई काम ठीक न हो तो बड़ों द्वारा जरा भी आंख दिखाने मात्र से डर भी जाता है। वह यही सोचता रहता है कि बड़े-बूढ़े तो ऐश करते हैं। उन्हें स्वतंत्रता प्राप्त है पर मैं ही क्यों पराधीन हूँ। मैं भी जब बड़ा हो जाऊंगा तो खूब अच्छे-अच्छे कपड़े पहनूंगा। जो चाहूंगा वह करूंगा, जिसके लिए मैं बाल्यावस्था में पराधीन हूँ।

वही बालक युवावस्था में प्रवेश करता है तो अपनी पूर्व संचित इच्छाओं को पूर्ण करना चाहता है। वह सोचता है कि मुझे सुंदर स्त्री मिले, मैं धनवान हो जाऊँ, मेरे पास सभी प्रकार के वैभव आ जायें। मैं पूर्ण रूप से सुख भोग सकूँ। किंतु जब वह सुख भोगते-भोगते शक्ति का ह्रास कर बैठता है तो फिर वृद्धावस्था में पाँव रखता है।

जरावस्था

जिन लोगों ने जवानी में आध्यात्मिक उन्नति का कोई साधन नहीं किया उनसे वृद्धावस्था में भी कोई साधन नहीं होता, क्योंकि वृद्धावस्था में तो इच्छाएं और भी वेग पकड़ लेती हैं। जैसे-जैसे इंद्रियां व शरीर शिथिल पड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे भोगेच्छाएं और अधिक बढ़ती जाती हैं। अच्छा खाने की इच्छा होती है किन्तु दाँत साथ नहीं देते। खाया भी नहीं जाता, न हाजमा ही साथ दे पाता है। सिनेमा-नाटक आदि देखने की भी इच्छा होती है, किन्तु आँखें काम नहीं देतीं। वृद्धावस्था को जरावस्था भी कहते हैं। इसमें देखना-सुनना-खाना इत्यादि सभी जरा-जरा अर्थात्

थोड़ा-थोड़ा रह जाता है। शरीर भी जर्जरित होता जाता है।

बाल-बच्चे पाल-पोसकर बड़ा किया था। वे भी अब अपन पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण उस वृद्ध मनुष्य की बात को नहीं सुनना चाहते। उस बेचारे की टूटी हुई खटिया घर के किसी एक कोने में पड़ी रहती है जहाँ वह खांसता, थूकता हुआ धीरे-धीरे घरवालों के लिए बोझ और ग्लानि का विषय बन जाता है। छोटे-छोटे बच्चे उसकी हँसी उड़ाकर उसका निरादर करते हैं। पानी के लिए भी उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। भोजन भी कभी समय पर मिलता है तो कभी समय पर नसीब नहीं होता। घर में वह 'मिसफिट' होकर पड़ा रहता है। इस दश में भी शांति नहीं मिल पाती क्योंकि वह अंदर-ही-अंदर जलत रहता है कि हाय, मैंने कुटुम्ब, परिवार के लिए जवानी में दिन रात एक कर के, अपने स्वास्थ्य का भी खयाल न किया, परिश्रम करके इस घर को वैभवशाली बनाया, किन्तु आज वही परिवार मेरी दुर्गति कर रहा है।

उसे न तो कोई भजन सूझता है न सत्संग अच्छा लगता है उससे न बैठा जाता है और न चला ही जाता है। हाँ, यह बात अवश्य होती है कि वह बिस्तर के साथ एकता स्थापित कर लेता है।

किसी महात्मा से सुना है कि एक घर में कोई बूढ़ा रहत था। घरवालों ने उसके बिस्तर के साथ बिजली की घण्टी का स्विच लगा रखा था जिससे कि वह आवश्यकता पर किसी को बुला ले किन्तु एक बार स्विच में खराबी हो जाने के कारण घण्टी बजना बंद हो गई। वह बेचारा पानी के लिए घण्टी बजाता-बजात ही मर गया, किन्तु उसे पानी नसीब नहीं हुआ। वृद्धावस्था का

ऐसी बहुत सी समस्याएं हल हो सकती हैं यदि जवानी में ही वृद्धावस्था की योजना बना ली जाय; क्योंकि रिटायर होना भी एक कला है।

वृद्धावस्था : आत्मोन्नति का साधन

यदि पहले से ही वृद्धावस्था की ठीक व्यवस्था कर ली जाय तो वृद्धावस्था इतनी दुःखदायी नहीं रहती बल्कि आत्म-प्राप्ति का साधन बन सकती है। जिन्होंने जवानी में अध्यात्मोन्नति की ओर प्रगति की है, जिन्होंने इंद्रियों को साधा है, उनके लिए यह वृद्धावस्था और भी तेजस्वी हो जाती है। उनका शेष जीवन प्रसन्नता के साथ व्यतीत हो जाता है।

क्षण-शेष : मरण

मृत्यु को तो एक-न-एक दिन आना ही है। मनुष्य तो परिमित श्वास लेकर इस जगत में आता है। मोटर में जितना पेट्रोल होता है, उतना समाप्त होने पर वह खड़ी हो जाती है। घड़ी में जितनी चाभी होती है वह उतनी ही चल सकती है। मनुष्य की आयु प्रारब्ध के अधीन है। जितने श्वास लेकर आया है, उतने ही श्वास लेकर अवश्य मरेगा। उससे पहले उसे कोई नहीं मार सकता। जाग्रत के बाद स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था आती है। इसी प्रकार जीवन की अंतिम अवस्था मृत्यु है। अतः मृत्यु से भी डरने की आवश्यकता नहीं। कृतकृत्य लोग मौत का भी प्यारे अतिथि के समान स्वागत किया करते हैं। वे इसे भी प्रिय-प्राप्ति का निमित्त समझते हैं। उनका विश्वास है कि संसार केवल कालक्षेप करने मात्र का साधन है। मुख्य जीवन तो ब्रह्मप्राप्ति ही है।

काल की चेतावनियां

मृत्यु जीवित मनुष्य को उसके जीवन में ललकारती हुई बार-बार चेतावनी देती है कि मैं सिर पर खड़ी हूँ। मेरी तलवार तुम्हारे ऊपर ही लटक रही है। किन्तु मनुष्य उसकी बार-बार की चेतावनी पर भी ध्यान नहीं देता। चालीस-बयालीस बरस की आयु होते ही आँखें कमजोर होने लगती हैं, शक्ति के ह्रास का अनुभव होने लगता है। तब मनुष्य चश्मा लगा लेता है, श्रम कम करने लग जाता है। यह पहली चेतावनी है कि हे मानव, तू साधारण आँख से तो नहीं देख पाता, लेकिन अब चश्मा लगाकर ही अपने आपको पहचान ले। किन्तु मनुष्य उसी भागदौड़ में लगा रहता है। मौत की चेतावनी का उस पर कुछ असर नहीं होता।

चेतावनी

फिर आगे चलकर पचास-पचपन की आयु होती है तो वह कान से जरा-जरा सुनता है। कान के पास जो बाल होते हैं वे पहले सफेद होते हैं मानो वे कान के पास से यह चेतावनी दे रहे हों कि अब तेरे बाल भी सफेद होने शुरू हो गए। अब भी जरा चेत और समझ कि किस ओर खिंचा जा रहा है।

एडवांस बुकिंग

फिर आगे जब और आयु बढ़ती है तो सिर के बाल झड़ने शुरू हो जाते हैं। जैसे किसी मुसाफिर को लम्बी मुसाफिरी में जाना होता है तो उसकी एडवांस बुकिंग होती है। इसी प्रकार ये बाल झड़कर कहते हैं कि हम तेरे लिए एडवान्स बुकिंग करने जा रहे हैं। अर्थात् जहाँ कि तुझे जाना है और जिस प्रकार हम जा रहे हैं, एक दिन तुझे भी हमारे गन्तव्य को ही जाना पड़ेगा। अंत में एक दिन ऐसा भी आ ही जाता है जब कि मनुष्य सब कुछ धरा-धराया छोड़कर इस संसार से कूच कर जाता है। मनुष्य ने सभय रहते हुए चेतावनी नहीं सुनी जिसके फलस्वरूप जीवन का लक्ष्य अप्राप्त ही रह गया।

इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य जैसा आत्मज्ञान से कोरा और पाप-पुण्यों से भरा आता है वैसा ही कल्याण के मार्ग से विहीन, अज्ञान से परिपूर्ण पाप-पुण्य के बोझ से लदा हुआ चला जाता है। वह मानव जीवन को कुछ भी सार्थक नहीं कर पाता।

इस कारण मानव को काल की प्रत्येक चेतावनी पर ध्यान देना चाहिये और सोचना चाहिये कि जो उसका अमर साथी है उसे पकड़े, जिसको साथ रखने से कल्याण हो— जिसको पाने पर फिर किसी को पाने की इच्छा न हो। जिन्होंने इस चेतावनी पर ध्यान दिया है उनका कल्याण हो गया है। जीवन में स्वतः दैवी प्रेरणा से आनेवाली चेतावनियों पर विचार करना चाहिये।

भावी यात्रा का पाथेय

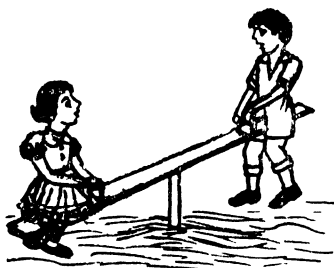
वृद्धावस्था मृत्यु की संगिनी है। इसी कारण दार्शनिक इसे कालकन्या कहते हैं। जवानी तो ऐसी है जो आकर चली जाती है पर वृद्धावस्था ऐसी है कि जो आकर फिर जाती नहीं। उसका अंत तो फिर चिता में ही जाकर होता है। पर वृद्धावस्था शरीर का धर्म है। आत्मा तो न जन्म लेता है और न जरा को प्राप्त होता है। जिन लोगों ने अपनी वृद्धावस्था को सुधार लिया अर्थात् सार्थक बना लिया है उनका जन्म सफल हो जाता है। जो लोग वृद्धावस्था में जीने की कला को नहीं अपनाते वे लोग सुखी नहीं बन सकते। वृद्धावस्था में देह जीर्णशीर्ण हो जाती है किन्तु मनुष्य की इच्छाएँ प्रबल होती चली जाती हैं। जब उनकी पूर्ति नहीं होती, शरीर भी जवाब दे देता है, तो मन में क्लेश उत्पन्न हो जाता है। वृद्धावस्था अन्तिम अवस्था होने के कारण अगर मनुष्य कम-से-कम यह समय ही लक्ष्य प्राप्ति में लगा दे तो उसका जीवन सार्थक हो सकता है। इस शरीर को एक न एक दिन मरना तो है ही तो फिर मरने के पहले ही क्यों न अपने आपको जान लिया जाय। जिस प्रकार सफर का सामान सफर से पहले तैयार कर

लिया जाता है, उसी प्रकार भावी यात्रा का पाथेय वृद्धावस्था में ही तैयार करना चाहिए ।

रघुवंशियों का आदर्श

कालिदास ने ' रघुवंश ' में रघुवंशियों की सबसे बड़ी विशेषता यही बताई थी कि वे बाल्यावस्था में निरन्तर विद्या का अभ्यास करते थे । जवानी में लौकिक व्यवहारी होते थे, बुढ़ापे में मुनियों के समान जीवन-यापन करते थे एवं अंत में वे शरीर को योगियों के समान त्यागते थे ।

वास्तव में जिसने जवानी बना ली उसने बुढ़ापा भी बना लिया । अतः सजग व्यक्ति जवानी को विशेष रूप से बनाने की चेष्टा किया करते हैं ।



वृद्ध की काया जवानी की छाया

वृद्धावस्था युवावस्था की छाया है। वृद्धावस्था में आकर जवानी एक स्वप्न हो जाती है। जिन्होंने जवानी में ही आध्यात्मिक मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दिया है, उनके लिए तो वृद्धावस्था भी सार्थक है, क्योंकि वे जवानी में भी ज्ञानवृद्ध हैं। जिन्होंने जवानी में परमात्मा का भजन नहीं किया उनसे वृद्धावस्था में भी भजन नहीं हो सकता। उनका भजन में मन ही नहीं लगता; क्योंकि भजन करने के लिए भी सतत अभ्यास की आवश्यकता है। हमारी एक बहुत निकट की रिश्तेदार थी। वह इतनी आचारवान थी कि अंगीठी तक को भी धोकर खाना बनाती थी। किन्तु वृद्धावस्था में भी उनके मुख से कभी राम-नाम नहीं निकला, क्योंकि राम उन्हीं के मुख से निकलता है जिनको 'राम' के उच्चारण का अभ्यास होता है। बिना अभ्यास नाम-स्मरण भी नहीं होता।

अभ्यास और वैराग्य

अगर वृद्धावस्था में मनुष्य देह-बुद्धि से ऊपर उठे तो उसके जीवन का काम बन जाय।

जरा अवस्था और शरीर की निर्बलता को देखकर मनुष्य में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उस वैराग्य को साधना में लगा दे तो अभ्यास होने में देर नहीं लगती। अभ्यास और वैराग्य का योग उसे प्रसन्न कर देता है। शरीर त्यागने के पहले ही अभ्यास और वैराग्य के प्रवाह में देहाभिमान त्याग दे तो फिर चाहे शरीर बने या बिगड़े, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह सदा जीवन-मुक्त-सा ही रहता है।

जीवन का अनुभव भी अनमोल और विरल होता है। बुद्धिमान उससे स्वयं लाभ उठाते हैं तथा दूसरों को लाभ देते हैं। जो दूसरे के अनुभवों से लाभ नहीं उठाता और न अपने जीवन के अनुभवों से लाभ उठाता है, ऐसा प्राणी चेतनाहीन समझा जाता है।

वृद्धावस्था को अनुभव की कसौटी पर कस कर हम उसे सर्वथा सार्थक बना सकते हैं। अतः हमें अपनी जवानी के अनुभवों से वृद्धावस्था में लाभ लेना चाहिए। लोग कहा करते हैं कि 'कही बड़े की कीजै।' बड़ों के अनुभव के ही कारण उनका कहना और मानना आवश्यक बतलाया गया है।



मनुष्य का असली बीमा

बीमा कंपनी मनुष्य के जीवन का बीमा तो कर लेती है किन्तु उसके जीने की गारंटी कभी नहीं देती, कि आप इतने समय तक जियेंगे ही। मेरी दृष्टि में बीमे की पालिसी 'मरने' की ही अकाट्य गारंटी है। इस मृत्यु-पत्र को हम जीवन की आशा बनाये बैठे हैं। बीमा कंपनी द्वारा दी हुई बीमे की पालिसी में यह साफ लिखा रहता है कि तुम्हारे मरने पर अमुक रकम जिन्हें तुम अपना उत्तराधिकारी मान बना रहे हो, उन्हें मिलेगी। इस कारण बीमा पालिसी जिन्दगी या जीने का बीमा नहीं किन्तु मरने की गारंटी अवश्य है।

मनुष्य अपनी जिन्दगी में अपने पर आश्रित परिवार के सदस्यों के लिए तो सोचता है कि मैं उनके जीवन-यापन के लिए भी कुछ प्रबंध कर दूं, किन्तु अपने जीवन का वह कुछ प्रबंध नहीं करता कि मैं कैसे और किस प्रकार जीवन जीऊँ। अपनों के बजाय हम सर्वप्रथम अपनी सोचें तो अपनी और दूसरों की—सबकी समस्या हल हो जाये। हम अपना और अपनों—दोनों का भला कर सकें। इस प्रकार हमारा आदर्श जीवन हम एक उत्तरदायित्व

के रूप में अपनी संतति के लिए छोड़ जायें जो उनके काम आ सके। भले ही हम सम्पत्ति कितनी ही छोड़ जायें, वह उनके सही उपयोग में आयेगी या नहीं यह तो समय ही बतायेगा। अक्सर यह देखा गया है कि जितनी ज्यादा संपत्ति लोग छोड़ जाते हैं उनकी संतान उनको उतनी ही जल्दी भूल जाती है। कारण यह है कि संतान तो धन संभालने में लग जाती है। उन्हें फुरसत ही नहीं रहती कि उन्हें बड़े-बुजुर्गों का खयाल आये। जिनको बड़े-बुजुर्गों का खयाल आता और जिनमें प्राचीन सभ्यता भरी हुई है ऐसे उत्तराधिकारी बुजुर्गों की प्रत्येक जवाबदारी संभालते हुए उनका भी खयाल रखते हैं। उनकी संस्कृति का आदर करते हैं। वे उनके सद्गुणों को पहचानते हैं। उनसे प्रभावित भी हैं। क्योंकि जो जिससे प्रभावित होगा वह वही बनने की चेष्टा भी करेगा। इस कारण बुजुर्गों के प्रति आदर-सम्मान रखते हुए संस्कृति के ये भक्त उनके सद्गुणों को अपने में लाते हैं। वे ही वास्तव में सच्चे उत्तराधिकारी भी बनते हैं। वे ही अपने पूर्वजों का सम्मान करते हैं। ऐसी सन्तान अपने पूर्वजों की संस्कृति का बीमा भी स्वयं होती है।



खण्ड पांच

संत और मनीषी

● सच्चा विरवत उसी को कहना चाहिये जो मान के स्थान से ही सदा दूर रहता है । वह सत्संग में स्थिर रहता है और अपना कोई नया समुदाय नहीं चलाता ●

—संत एकनाथ

एक संत से भेंट

एक दिन मुझे किसी मित्र का टेलीफोन आया कि मेरे घर पर आज सायंकाल एक विचित्र ढंग के संत पधार रहे हैं ; आप से भी अनुरोध करता हूं कि आप भी आयें ।

सायंकाल जब मैं मित्र के घर पर पहुंचा, तो वहां बहुत भीड़-भाड़ थी । संत रेशमी लुंगी पहने हुए थे । उनका ऊपर का धड़ नंगा था । बीच-बीच में वे सिगरेट पीते जाते थे । उन्हें देखकर मेरे मन में कुछ प्रतिरोध हुआ कि ये कैसे संत हैं ? बड़े फैशनेबल (शौकीन) प्रतीत होते हैं । खैर, मैं ऐसे विचारों में निमग्न हुआ उनके पास शांत बैठा रहा । आगन्तुक लोगों ने उनसे कुछ प्रश्न भी छेड़ दिये ।

किसी ने पूछा— आत्मज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

संत ने कहा — आत्मज्ञान की प्राप्ति का परावाक् ही एक माध्यम है । यह माध्यम अनुभव का विषय है, वाणी का विषय नहीं । पर मन की वृत्ति-शून्यावस्था में यह अनुभव होता है ।

इस प्रकार आध्यात्मिकता के बारे में बड़ी-बड़ी लंबी चर्चाएं हुईं किन्तु ऐसी चर्चाओं में उस समय तक कुछ सार नहीं जब तक कि

मनुष्य अंतर्मुख होकर अपनी ओर नहीं लौटता, स्व-पन का स्वयं अनुभव नहीं कर लेता । जब तक ऐसा नहीं होता, मात्र चर्चा से आत्म-प्रत्यय नहीं होगा ।

परावाणी

जब उन्होंने परावाणी की बात कही, तो मुझे ऐसा ज्ञात हुआ कि ये कोई अनुभवो महापुरुष हैं । उनकी आंखों में मस्ती झलकती थी । उनके रोम-रोम से प्रेम उमड़ रहा था । वे संत अपने मस्तक से पसीना पोंछकर किसी के गले में लगा देते थे । वह पसीना इतना सुगन्धित था कि उसकी सुगन्धि चारों तरफ फैल जाती थी । मेरी ओर भी उन्होंने इशारा किया और मुझे अपने पास बुलाया । जब मैं उनके नजदीक गया तो मेरे गले को भी उन्होंने स्पर्श किया, जिससे मेरा गला भी सुगन्धि से भर गया । रात भर मुझे अपने शरीर से सुगन्धि आती रही । यह घटना मुझे आश्चर्यजनक-सी लगी, क्योंकि योग के द्वारा निर्मल शरीर हुए बिना ऐसा नहीं होता । इसी कारण दूसरे दिन मैं उनके पास गया । उस समय बातचीत करते हुए उन्होंने मुझे बताया कि परमात्मा ही परमगुरु है । वह तुम्हारे अन्दर बैठा है । वह जन्म की पहली सांस के साथ ही तुम्हारे साथ आया । उसे केवल पहचानने की जरूरत है । उनकी इस बात में मुझे कुछ रहस्य प्रतीत हुआ ; क्योंकि परावाणी के प्रेप्सु प्राण से औपचारिक संबंध ही उसे मानते हैं ।

फिर उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम कौन सी भाषा जानते हो ? मैंने कहा कि मैं हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी भाषा जानता हूँ । उन्होंने पूछा—आप अच्छी तरह कौन सी भाषा जानते हो ? मैंने

उत्तर दिया—हिन्दी। उसके बाद मेरे सामने एक कोरा कागज मंगाया गया। उस समय उन्होंने मुझसे कहा—आंखें बंद करो। मैंने आंखें बंद कर लीं, पर जब आंखें खोलीं तो देखा कि उस कागज में श्रीकृष्ण भगवान का नाम लिखा हुआ है। उस कागज को मैंने जेब में रख लिया। रास्ते में मुझे ख्याल आया कि कागज निकाल कर देखूं। जब निकालकर देखा तो कागज कोरा का कोरा ही मेरी जेब से निकला।

सिद्धियों में महत्वबुद्धि नहीं

उस संत ने मुझे यह भी बताया था कि कार्य-योग में नहीं पड़ना चाहिये, अर्थात् बाह्य चमत्कारिक क्रियाओं में नहीं पड़ना चाहिये, क्योंकि ये मनुष्य के सत्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए रुकावटें हैं। यदि ये आर्य भी तो इनकी ओर ध्यान भी नहीं देना चाहिये। सिद्धियां प्राप्त हों तो भी इनमें महत्वबुद्धि नहीं करना चाहिये। ये भगवान की शक्तियां हैं जो किसी भी तत्क्रियाशील को प्राप्त हो सकती हैं। मनुष्य का असली लक्ष्य तो आत्मज्ञान प्राप्त करना ही है। वह चर्चा या वार्तालाप करने से सिद्ध नहीं होता अपितु उसे अनुभव में लाने से ही होता है। सिद्धियां आकर चली जाती हैं किंतु ज्ञान होकर फिर नहीं जाता। अतः स्वरूप-ज्ञान ही सच्ची सिद्धि है।

वे संत शायद अब भी विद्यमान हैं। शरीर से बंगाली हैं। लोग उन्हें दादाजी के नाम से पुकारते हैं। मुझे उनकी उम्र चालीस साल के करीब लगती थी, किंतु किसी ने बताया कि वे चालीस साल से ऐसे ही दीख रहे हैं। हो सकता है उनकी उम्र बहुत अधिक हो। ठीक है, योग से दिव्यता और निरासक्ति और त्याग-

वैराग्य से ज्ञान हो जाता है किंतु प्रारब्ध कर्म जो शरीर-यात्रा को चलाते हैं इनका प्रभाव, जबतक वह शरीर है, रहता है। सन्त में ज्ञान से मस्ती, योग से शरीर की दिव्यता, पसीने में भी दिव्य गंध तथा प्रारब्ध भोग के कारण सिगरेट पीना चल रहा था। अतः योगी सन्त ज्ञानीजनों के जीवन-मुक्त होने पर भी प्रारब्ध-भोग तो अध्यासवश भोगने ही होते हैं। यह ठीक है कि वे भी उन्हें बन्धनकारक नहीं होते।



महात्मा का तख्त

अप्रैल का महीना था। सर्दी जा रही थी और गर्मी आ रही थी। बीच का मौसम बहुत ही सुहावना था। पक्षी चहचहा रहे थे। वैशाखी के मौके पर हरिद्वार में अर्धकुंभ जैसा मेला लगा हुआ था।

मैं एक-दो व्यक्तियों के साथ महात्माओं को भोजन के लिए आमन्त्रित करने गया। कुछ महात्माओं ने बड़ी सरलता और प्रेमपूर्वक हमारा आमंत्रण स्वीकार कर लिया।

गृहस्थों के लिये नहीं !

हम एक ऐसे महात्मा को भी आमन्त्रित करने गये जिनका आश्रम बड़ा विशाल है। उस विशाल आश्रम में विशाल मंदिर है। उस विशाल मन्दिर की विशाल मूर्ति देखकर मेरा चित्त प्रसन्न हो गया। मैंने महात्माजी को नमस्कार किया। वहां बैठने के लिए कोई खास स्थान नहीं था। हम इधर-उधर बैठने की प्रतीक्षा करने लगे। इतने में महात्मा जी अपने हाथ से एक बहुत वजन-

दार दरी हम लोगों को बैठने के लिए खींचकर लाने लगे ।

मैंने कहा—महाराज, इतना कष्ट करने की क्या आवश्यकता? हम इसी तख्तपोश पर बैठ जाते हैं । इतना कहकर हम उस पर बैठ गये । हमको बैठते हुए देखकर महात्माजी को रोष आ गया । उन्होंने कहा कि यह तख्तपोश महात्माओं के बैठने के लिए है, गृहस्थों के बैठने के लिए नहीं । यह बात सुनकर हमें ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह तख्तपोश नहीं था बल्कि किसी सम्राट के बैठने का तख्त (सिंहासन) ! जिस प्रकार राजा-महाराजा के तख्त पर कोई नहीं बैठ सकता, उसी प्रकार महात्मा के तख्त पर भी बैठना वर्जित ! आश्चर्य हुआ । महात्मा जी तख्त के साथ-साथ स्वयं भी सख्त बन गये थे ।

बहुत बार देखा गया है कि त्याग और वैराग्य का उपदेश देनेवाले की अगर एक लंगोटी भी गुम हो जाती है तो उसका चित्त व्याकुल, खिन्न हो जाता है । एक लंगोटी का गुम हो जाना भी उनके लिए असह्य हो जाता है ।

हम एक अन्य महात्मा के पास गये तो उन्होंने हमारे हाथ पकड़कर प्रेमपूर्वक अपने साथ आसन पर बैठाया । किसी का सत्कार भी अपना ही सत्कार है, जिससे सत्य की प्राप्ति होती है । इसलिए महापुरुष सबका समान भाव से आदर-सत्कार करते हैं । एक महात्मा, जो कि अद्वैत वेदान्त पर प्रवचन करते हैं और अद्वैत को जीवन में उतारने का लोगों को उपदेश करते हैं उनके हृदय में आसन के प्रति इतना द्वैत होगा, यह बात हमारी समझ के बाहर है ।

विशाल आश्रम, किन्तु हृदय संकुचित

प्रायः देखा गया है कि जब भी कोई सम्मेलन होता है तो मण्डलेश्वर इत्यादि आगे के आसन पर ही बैठना चाहते हैं। अगर उनको कहीं दायें-बायें या बगल में बैठना पड़े तो उनका हृदय खिन्न हो जाता है, मुंह की आकृति ही बिगड़ जाती है। स्वयं के लिए आसन का इतना महत्त्व और दूसरे के तख्तपोश पर बैठ जाने से रोष करना यह तो विषमता ही है। विशाल आश्रम में अगर हृदय विशाल नहीं तो भगवान का विशाल मन्दिर और उसमें विशाल मूर्ति किस काम की !

हमारी दो पौत्रियां हैं जिनका नाम वन्दना और मुक्ता है। वन्दना की उम्र उस समय पांच साल और मुक्ता की तीन साल थी। श्रावण मास में नई-नई वेषभूषा से सुसज्जित होने की परिपाटी है, इसलिए मैं इन दोनों को श्री हरिलाल ड्रेसवाला की दुकान पर राधा और कृष्ण की पोशाक पहनाने के लिए ले गया। अब प्रश्न यह खड़ा हुआ कि कृष्ण कौन बने और राधिका कौन।

कोई कहता कि कृष्ण बड़े हैं इसलिए बड़ी लड़की को कृष्ण की पोशाक पहननी चाहिए। संसारियों का सोच-विचार प्रायः इसी प्रकार का होता है। वे समझते हैं कि वर-वधू में लड़का बड़ा होगा और वधू छोटी। इसलिए बड़ी बालिका को कृष्ण के कपड़े पहनाने चाहिये, छोटी को राधिका के। वस्तुतः कृष्ण उम्र में छोटे थे और राधिका बड़ी।

राधा-कृष्ण का प्रेम वास्तविक प्रेम था। प्रेम निष्काम और निःस्वार्थ होता है। प्रेम दूसरे के लिए जीता है। प्रेम सर्वस्व न्योछावर कर देता है। प्रेम में देना ही है, लेना कुछ नहीं।

जिस प्रेम में कामना है, द्वन्द्व है, वह प्रेम प्रेम नहीं, प्रेम का छिछला अभिनय मात्र है। ऐसा वास्तविक अपरिच्छिन्न अद्वितीय प्रेम अगर जीवन में उतर आये तो प्रेम ही परमात्मा बन जाता है। प्रेम सदा अद्वैतता चाहता है। अद्वैत घृणा का त्याग और सच्चा प्रेम सिखाता है। यह अद्वैत भाव सच्चे संत एवं महात्मा के सान्निध्य एवं प्रेरणा से प्राप्त हो सकता है।



संत महात्मा : सुगंधित फूल

फूल तो प्रायः सभी सुगन्ध देते हैं, संसाररूपी बगीचे में संत महात्मा भी फूलों की तरह अपनी सुवास बिखेरे रहते हैं। उन्हीं से संसार रूपी वगीचा भी शोभायमान हो रहा है। उन्हीं की सुगन्धि सरीखी दिव्य वाणी से संसार सुरभित बना हुआ है। जब हम एक फूल को अपना लेते हैं, यानी अपनी नासिका के पास ले जाते हैं, तो नाक के समीप फूल के उपस्थित रहने के कारण हमें उस फूल की सुगंध विशेष रूप से आने लगती है। इसी प्रकार जब किसी एक महान् पुरुष के प्रति हमारा हृदय आकर्षित हो जाता है और हम भी उसे अपने हृदय के पास ले जाते हैं तो उसके उपदेशों का हमें विशेष आनन्द मिलने लग जाता है।

परमानन्द का अनुभव करनेवाले

ऐसे परमानन्द का अनुभव करने वाले महान् पुरुष ही गुरु होते

हैं, जिनके पास बैठने से परम शांति का अनुभव होता है। ऐसे शान्त पुरुषों के समीप सदा शांति की वर्षा होती रहती है। दिव्य संतों के पास मैंने स्वयं शान्ति का अनुभव किया है। कोई सहृदय व्यक्ति संतों के सत्संग में समाहित हो शान्ति पा सकता है। उनकी वाणी भी अन्तर को आह्लादित करती है। इसी कारण कहा करते हैं कि संत महात्मा संसार में सुगन्धित फूल के समान होते हैं।



साधु का उपदेश

एक साधु के पास कोई व्यक्ति कुछ उपदेश पाने के लिए गया। उसने साधु से इसके लिए प्रार्थना भी की। साधु ने उस व्यक्ति को धर्मशाला के एक कर्मचारी के पास भेज दिया। वह व्यक्ति धर्मशाला के कर्मचारी के पास गया। धर्मशाला का कर्मचारी सुयोग्य था। आगंतुक उसकी दिनचर्या को देखता रहा किन्तु उसे कोई विशेषता प्रतीत न हुई। वह एक साधारण मनुष्य था, जो कि आये हुए यात्रियों की देखभाल किया करता था। उनके लिए कमरे खोल देता, कमरे की साफ-सफाई कर देता, रजिस्टर में नाम लिख लेता। शाम को बर्तन मांज-धोकर सोता और सबेरे उठकर उन बर्तनों को फिर धोता। धर्मशाला का मनुष्य न पूजा करता न कुछ पाठ आदि।

आगन्तुक ने सोचा कि साधु ने तो मेरा मजाक किया है, इस व्यक्ति में कोई विशेषता तो है नहीं! यह समझकर वह वापस लौट आया। साधु ने पूछा कि तुमने उस आदमी से क्या सीखा?

आगन्तुक ने उत्तर दिया कि “महाराज, वहां तो सीखने जैसी कोई बात ही नहीं थी।” साधु ने उस आदमी की दिनचर्या के बारे में पूछा। आगन्तुक ने धर्मशाला के कर्मचारी की सारी दिनचर्या कह सुनाई। इसके बाद उसने यह भी कहा कि वह रात को बर्तन धोकर सोता और सबेरे उठकर फिर उन्हीं बर्तनों को धोकर इस्तेमाल करता था।

अंतःकरण की शुद्धि

साधु ने कहा कि बस, यही बात देखने के लिए मैंने तुम्हें वहां भेजा था। जिस प्रकार वह कर्मचारी रात को बर्तन साफ करके रखता और सबेरे उन्हें फिर धोता है, ताकि रात भर में पड़ी हुई धूल भी उनसे निकल जाय इसी प्रकार मनुष्य को भी अपने अंतःकरण को सदा शुद्ध रखना चाहिये। उसे बार-बार मांजना और धोना चाहिये, ताकि अंतःकरण जैसी परम उपयोगी चीज पर किसी प्रकार की अशुद्धि न रहने पाये।

जीवन का रूपान्तरण

अंतःकरण के शुद्ध होने की देर है। आत्मप्राप्ति में देर नहीं है। आत्मा तो फिर मिला-मिलाया ही है। सारे पवित्र कर्म अंतःकरण की जन्मजन्मान्तरों की अशुद्धि को मिटाने के लिए किये जाते हैं। अंतःकरण पूर्ण रूप से शुद्ध हुआ कि एक बार का भी ‘तत्त्वमसि’ (वह ब्रह्म तू ही है) का उपदेश ‘अहं ब्रह्मास्मि’ (मैं ही ब्रह्म हूं) यह साक्षात् अनुभव करा देता है। आत्मज्ञान ही क्यों, जितनी भी परिस्थितियां हैं वे सब शुद्ध हृदय पर ही फलती और फूलती हैं। अतः मन की सफाई सर्वत्र चाहिये।

साधु के इस उपदेश का मर्म यदि हम समझ लें तो हमारा जीवन रूपान्तरित हो जाये।

महात्मा : सत्य संकल्प

महात्मा सत्य संकल्प होते हैं, उनके मुंह से जो भी अनायास निकल जाता है, वही वाक्य सत्य हो जाता है। किसी एक महात्मा को सत्संगी गृहस्थ परिवार ने भोजन के लिए बुलाया, किन्तु जब भोजन तैयार हो गया तो उसका लड़का अनायास ही मर गया। गृहस्थ परिवार ने सोचा कि अगर हम शोक मनाएंगे तो महात्मा भोजन नहीं करेंगे। अतः महात्मा को शांति से प्रथम भोजन करा देना चाहिए। पीछे शोक प्रकट करेंगे।

पर आनंद और शोक ये दोनों छिपने की चीजें नहीं होती। महात्मा आए तो घर में अजीब सन्नाटा छाया हुआ था। महात्मा ने पूछा कि “रामू कहां है?” गृहस्थिन ने कहा कि महाराज, वह तो सोया हुआ है। तब सन्त बोले कि जाओ, बुला लाओ। गृहस्थिन ने कहा— महाराज, वह अभी-अभी सोया है। पर महात्मा ने नहीं माना।

आखिरकार गृहिणी ने कहा कि अच्छा तो महाराज, आप ही

बुला लायें । महात्माजी झट उठकर बुलाने चल दिये । देखा तो लड़के के ऊपर चादर पड़ी हुई थी । उन्होंने बालक को आवाज दी कि बेटे उठ, चल भोजन कर । सन्त पहुंचे हुए थे । लड़का उनकी आवाज सुनकर खड़ा हो गया । यह देखकर घर वाले सभी आश्चर्यचकित हो गये । उनकी प्रसन्नता का पारावार न रहा ।

संत सत् संकल्प होते हैं । उनके मुँह से जो बात निकलती है वह अटल होती है । जब ईश्वर के संकल्पमात्र से संसार रच जाता है, तो फिर ईश्वर के परम कृपा भाजन और संत सत्-संकल्प क्यों न होंगे । सच्चे संत के संकल्प सत्य होने ही चाहिये ।



निष्काम सेवा

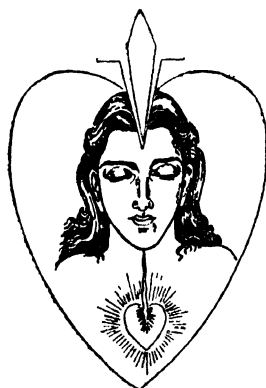
ईश्वर के प्रति भक्ति निष्काम होनी चाहिए। एक बार एक नाई, किसी गृहस्थ के बाल बना रहा था। उसी समय एक फकीर वहां आ गया और कहने लगा कि खुदा के वास्ते मेरी भी हजामत कर दो। यह सुनते ही खुदापरस्त वह नाई अपने ग्राहक से बोला, आप थोड़ी देर ठहर जायें। खुदा की खातिर उस फकीर की सेवा मुझे पहले करनी चाहिये। क्योंकि खुदा का काम सबसे पहले है। इसके बाद उसने फकीर की हजामत कर उसे नमस्कारपूर्वक बिदा किया।

कुछ दिनों के बाद जब उस फकीर को कुछ पैसे मिले तो उसने उन्हें उस नाई को देना चाहा। किन्तु नाई ने पैसे लेने से इनकार कर दिया और वह बोला कि मैंने खुदा के वास्ते तुम्हारी हजामत की थी, पैसे के लिए नहीं। यह सुनकर फकीर खुदा के खयाल में मस्त हो अपने पैसे उठाकर कहीं एकांत में इबादत करने बैठ गया।

निष्काम कर्मों के साधक

खुदा उसको कहते हैं जो खुद आए। दुनिया का हर एक व्यक्ति कुछ न कुछ सिपत रखता है। नाई के इस निष्काम कर्म से निष्काम सेवा करने का पाठ सीखने को मिलता है। सेवा धन से नहीं होती, तन और मन से होती है।

तन, मन और धन जिस प्रकार सकाम कार्यों के साधक हैं उसी प्रकार निष्काम कर्मों के भी साधक हैं। यदि इनके साध्य कार्यों को करते समय विवेक और वैराग्य भी साथ दे दें तो फिर कहना ही क्या है! शीघ्र ही कल्याण और निःश्रेयस् प्राप्त हो जाय क्योंकि निष्काम कर्मों की चरम परिणति में मोक्ष-भागी शरीर मिलता है जो कि इसी भव में भव से मुक्त करा देता है।



ਘਾਟੁ ਏ :

ਪ੍ਰੇਮ

- जिसने प्रेम का नियम नहीं लिया, जिसने काम को नहीं जीता और जिसने नेत्रों से अलख पुरुष भगवान के दर्शन नहीं किये उसका जीवन व्यर्थ है । ●

— संत तुकाराम

सच्चा सौंदर्य और वास्तविक प्रेम

जो मनुष्य चर्म के प्रेम में पड़ जाता है, वह जीवन का चरम लक्ष्य खो बैठता है। अक्सर लोग गोरी त्वचा को सुन्दर मानते हैं, पर श्याम रंग में क्या सुन्दरता नहीं होती? गोरे मुखड़े के ऊपर अगर एक काला तिल हो तो बहुत ही सुंदर लगता है। कवियों ने इसकी बड़ी-बड़ी उपमाएं दी हैं, बड़े-बड़े बखान किये हैं। इस प्रकार कालिमा भी अपना सौंदर्य रखती है। सुंदरता केवल गोरी चमड़ी में ही परिमित नहीं। इंग्लैंड, अमरीका में स्त्रियों के सुनहरे बाल होते हैं, वहां पर वे काले बालों के लिए तरसती हैं। कई स्त्रियां अपने बालों को सुरक्षित रखकर अपनी सुंदरता बढ़ाती हैं। कई उन्हें कटाकर अपने को सुंदर मानती हैं। इससे प्रतीत होता कि त्वचा के रंग और बालों के रंग में वास्तविक सुंदरता नहीं है। बाहर का बनावटी दिखावा भी वास्तविक सुंदरता नहीं हो सकता। यह तो एक प्रकार का धोखा ही है।

ग्लैमर

आजकल के बहुत से नवयुवक और नवयुवतियां इस दिखावे का शिकार बन जाते हैं। वे बाहर के ग्लैमर और बनाव-शृंगार पर रीझ जाते हैं। एक दूसरे के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने लगते हैं। जब शादी के बाद वही ग्लैमर उतर जाता है और असलियत सामने आती है तो उनका प्रेम भी बर्फ की तरह शीतल पड़ जाता है। आजकल युवक-युवतियों के युगल-नृत्य होते हैं। अनेक नवयुवक चाहते हैं उनकी पत्नियाँ उनके साथ में तो नाचें ही किन्तु अन्य पुरुषों के साथ भी नाचें। पर इस प्रकार अंग-से-अंग मिलाकर नाचना हृदय में विकार उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। वह शांत मन को काम-वासना से उद्धिग्न बना देता है। स्त्री की तो कामना दृष्टि से ही मनुष्य के मन में विकार पैदा हो जाते हैं, तो फिर उत्तेजक भावभंगिमा के साथ अंग-से-अंग मिलाकर नाचने से क्या ऐंद्रिक उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती होगी ?

अति आधुनिकतावादी

अति आधुनिकतावादी कहते हैं कि यह तो आधुनिक मनोरंजन है, इसमें क्या विगड़ता है ? हम कोई व्यभिचार थोड़े ही कर रहे हैं। पर उनकी यह बात युवितसंगत नहीं। कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसके मन में स्त्री के साथ अंग-से-अंग मिलाकर नाचने से विकार पैदा नहीं होगा ? कामना के चरितार्थ करने के अनुकूल वातावरण मिलने पर ऋषि-मुनि भी कामना का शिकार बन गये हैं। उन्होंने भी कामना की पूर्ति के प्रयत्न किये हैं। तो फिर आजकल के युवक - युवतियों के विषय में क्या पूछना। स्त्रियाँ होठों पर लिपस्टिक लगाती हैं। यह लिपस्टिक शब्द ऐसा है मानो जहाँ कि लिप्सा आकर टिक जाये। मुंह से बाहर निकलते

रहकर अपने भीतर की झांकी करा देती है कि मैं भी तो चाह की सतायी हुई हूं।

सुन्दरता की परख

जब कोई स्त्री बहुत से आभूषण डालकर शरीर की सजावट कर लेती है तो उसका निजी स्वाभाविक सौंदर्य ढक जाता है। कामी लोग सौंदर्य का ठीक अर्थ नहीं करते। सुंदरता परखने के लिए हृदय और चरित्र भी सुंदर चाहिये। देखने में बहुत सुंदर स्त्री भी अगर चाल-चलन में ठीक नहीं है तो क्या उसे सुंदर कहेंगे? क्या वह घरवालों की शोभा बढ़ायेगी और उनको अच्छी लगेगी? नहीं। न वह उसके चाहनेवाले अनाचारियों को ही बहुत दिन अच्छी लगती है। वे भी उसे मनचली समझ घृणा व्यक्त करने लगते हैं। सुंदरता व्यक्ति का व्यक्तित्व है, जो कि अंदर-बाहर के गुणों का अविचल प्रतीक है। अगर किसी स्त्री की चमड़ी बहुत गोरी है और वह बोलने में कटु है तो वह सुंदर नहीं लगेगी।

मनुष्य के शरीर में मल-मूत्र, हड्डियां और मांस-मज्जा आदि भरे हुए हैं, अगर कहीं इसके ऊपर चमड़ी न हो तो मक्खियां भिनक-भिनककर एक मिनट भी चैन न लेने दें। न जाने क्यों इस चाम मात्र पर ही सौंदर्य की भावना हो जाती है? कौन से बुरे संस्कार और बुरे भोग ऐसी प्रेरणा देते हैं? आजकल के नव-युवक-नवयुवतियों का प्रेम चर्म के प्रति केवल भोग-बुद्धि है। अगर चर्म में किसी प्रकार का दोष आ जाता है, तो वह प्रीति की नाटिका भी जाती रहती है। ऐसा प्रेम, प्रेम नहीं केवल भोग-लिप्सा के पूर्ण करने का नाटक मात्र होता है क्योंकि प्रेम में स्वार्थ बिलकुल नहीं चलता। वास्तविक प्रेम तो आत्मा की वस्तु है

जो कि आत्मभावना के बिना नहीं होता । प्रेम सौदागरी नहीं, कि मैंने तेरे लिए यह किया, तू मेरे लिए यह कर । प्रेम मजबूरी नहीं । प्रेम किया नहीं जाता । किया हुआ प्रेम, प्रेम नहीं वरन वासनाओं को छिपाने और उन्हें गुप्त रूप से पूर्ण करने का अभिनय है । आत्मा के अपनपे की भावना प्रेम के रूप में स्वयमेव प्रकट हो जाती है । प्रेम देना जानता है, लेना नहीं । प्रेम मरना जानता है, मारना नहीं । सच्चे प्रेम में प्रेमी और प्रियतम में कोई भेद नहीं रहता, वह शरीर से दो भले ही दीखे किन्तु विचार से एक ही होते हैं । वे एक-दूसरे के सुख में सुख मानते हैं, एक दूसरे के जीवन में अपना जीवन समझते हैं । प्रेमी बनना कोई आसान काम नहीं । जो हथेली पर अपना सिर रख सकता है, वही प्रेम कर सकता है ।

सांसारिक प्रेम प्रेम नहीं, स्वार्थपूर्ण मोह है । मोह में स्वार्थ भरा रहता है । मोह अपने स्वार्थ के लिए होता है, दूसरे के स्वार्थ के लिए नहीं । वास्तविक प्रेम दूसरे को अपने आप में देखने से होता है । मोह शूल सा दर्द देने वाला है और प्रेम फूल सा आनंद-दायक है । जिन्होंने सच्चा प्रेम करना सीखा है, वे ही भगवान के भक्त बनने के अधिकारी हैं । प्रेम में नेम नहीं होता, चर्म में मर्म नहीं होता । प्रेम स्वार्थ भावना या 'मैं'—'तू' के भेद को वरदाण्त नहीं करता । प्रेम सच्ची एकता का प्रतीक है ।

प्रेम और मोह

प्रेम फूल है, मोह कांटा । प्रेम सुगंध है, मोह दुर्गन्ध । प्रेम निःस्वार्थ है, मोह स्वार्थ । प्रेम निष्काम है और मोह कामान्ध ।

जिस तरह कांटा चुभ जाने से मनुष्य दुःखी होता है, उसी प्रकार मोह का डंक लग जाने से वह उसे चुभता है । दुःख का मूल कारण मोह है । जैसे पांव में कांटा लग जाने से उसकी चुभन बनी रहती है और जब तक उस कांटे को निकाला नहीं जाता तब तक वह कांटा चैन नहीं लेने देता, इसी प्रकार जब तक हम मोहरूपी कांटा निकाल नहीं फेंकते तब तक उसकी चुभन रह जाती है ।

मोह तामसिक

ज्यादातर संसारी पति-पत्नियों का प्रेम नहीं किन्तु मोह होता है । वे अपने ही स्वार्थ के लिए एक-दूसरे को चाहते हैं । जब स्वार्थ-पूर्ति की संभावना नहीं रहती तब एक-दूसरे की चाहना भी नहीं रहती । प्रेम एक बहुत ऊंची अवस्था है, जो कि किंचित

ही पायी जाती है। दूसरे के लिए जीना प्रेम है और अपने स्वार्थ के लिए जीना मोह है।

प्रेम सात्त्विक

गोपिकाओं का प्रेम निःस्वार्थ था, निष्काम था। वे श्रीकृष्ण के लिए जीती थीं। उसी की खुशी में अपनी खुशी मानती थीं। प्रेम में नेम नहीं होता। प्रेम सात्त्विक है और मोह तामसिक है। संसारियों की दृष्टि से मोह को ही प्रेम कहते हैं।

जब प्रेम और मोह का अंतर समझ में आ जाता है तब मनुष्य के अंतर के पट खुल जाते हैं। वह प्रेम के मार्ग पर चलकर निःस्वार्थता, निष्कामता के सोपान पर चढ़ता हुआ निजस्वरूप को प्राप्त होता है।



प्रेम और व्यवहार

प्रेम में महान शक्ति है। प्रेम जीवन-कल्याण है। जहां प्रेम नहीं, वहां जीना कलह का कारण बन जाता है। प्रेम प्रकाश है जो मनुष्य को भयरूपी अन्धकार में ठोकरें खाने से बचाता है। जहां प्रेम होता है वहां परस्पर गलतफहमी नहीं होती है, किन्तु जहाँ प्रेम के नाम पर स्वार्थ सिद्धि की जाती है वहाँ पर मनुष्य की स्वार्थ भावना प्रकट होकर बाधक बन जाती है। प्रेम निःस्वार्थ और निष्काम है। प्रेम होता ही अपनत्व में है, जहां कोई द्वैत नहीं होता।

गोपियों का प्रेम निःस्वार्थ प्रेम था। वे लाला को माखनचोर कहती थीं और उसकी चुगली यशोदा मां से भी करती थीं। प्रेम में मनुष्य किसी को गाली भी दे तो गाली बुरी नहीं लगती। प्रेम गाली में भी प्रेम के भाव को पहचानता है।

प्रेम और कर्तव्य

राम व रावण के युद्ध में जब मेघनाद मारा गया, तो उसकी

स्त्री सुलोचना उसके कटे सिर को युद्ध भूमि में ढूँढ़ने निकली, पर वह कहीं पर भी नहीं मिला। रावण ने सुलोचना को आदेश दिया कि वह राम के पास जा कर अपने पति का सिर ले आए।

राम के साथ रावण का युद्ध होने पर भी राम के प्रति उसका आन्तरिक प्रेम था। यही कारण था कि उसने श्रद्धापूर्वक राम—अपने शत्रु—के पास सुलोचना को भेज दिया।

जब राम वनवास से वापस आए तो सीता के बारे में नगर में चर्चा होने लगी। एक धोबी ने सीता के चरित्र के ऊपर आक्षेप कर डाला। राम ने इसे ही जनता की आवाज समझा। एक आदर्श राजा के नाते प्रेमपूर्वक उन्होंने सीता का परित्याग कर दिया। पति के नाते वे सीता से पूर्ण प्रेम करते थे तथा उन्हें सीता का वियोग असह्य था, परन्तु राजा के नाते उन्होंने कठोरतापूर्वक सीता का परित्याग कर अपने कर्तव्य को निभाया।

श्रीराम को जब वनवास की आज्ञा हुई तो वे वन में भी प्रेमपूर्वक गए। प्रेम से वन में जाना उनके लिए दुःखद न होकर सुखद हो गया। वनवास को उन्होंने तप और अपने कल्याण का मार्ग समझा। महापुरुष आपत्ति को भी प्रेम से सम्पत्ति बना लेते हैं।

प्रेमपूर्ण कार्य और बेगार

गांधीजी जब जेल में थे तो वे अपने कमरे को झाड़ू से स्वयं ही प्रेम से साफ करते थे। वहीं उनके एक अनुयायी भी जेल में थे। उन्होंने कहा कि झाड़ू का काम वे किया करेंगे। पहले तो गांधीजी ने इसे नहीं माना किन्तु उनके अनुग्रह पर उन्होंने मान लिया।

अनुयायी महोदय ने चार दिन झाड़ू दिया, तो उसके बाद

गांधीजी ने फिर अपने हाथ से झाड़ू देना शुरू कर दिया। अनुयायी ने इसका कारण पूछा तो गांधीजी बोले कि झाड़ू भी प्रेम से देना चाहिए, बेगार समझकर नहीं।

गांधीजी जब झाड़ू देते थे, तो कमरे के कोनों से भी गर्दोगुबार निकाल कर साफ करते थे, किन्तु उनके अनुयायी जल्दी-जल्दी झाड़ू देकर बेगार जैसा करते थे। गांधीजी ने बताया कि झाड़ू भी प्रेम से दिया जा सकता है।

यशोदा माता ने श्रीकृष्ण को प्रेम से ओखली में बांधा था। उनका मन नहीं मानता था, किन्तु गोपियों के कहने पर दण्ड देना उचित समझा। प्रेमपूर्वक किसी को दण्ड भी दिया जाये तो दण्डित को प्रेम की ही अनुभूति होती है।

युद्ध में भी प्रेम

प्रेम से लड़ाई भी लड़ी जा सकती है। कोई जाति-द्वेष तो किसी सैनिक का होता नहीं। चूंकि दूसरा देश हमारे देश पर आक्रमण कर रहा है और सैनिक लड़ाई के मैदान में अपने देश का रक्षक है, अतः विपक्षी सैनिक को मारना दूसरे सैनिक का धर्म है। किन्तु देखा गया है कि अवसर मिलने पर उनके परस्पर व्यक्तिगत व्यवहार में कटुता नहीं आती।

सीता जब वाल्मीकि के आश्रम में थी, उस समय राम द्वारा छोड़ा अश्वमेध का घोड़ा लवकुश ने पकड़ लिया और युद्ध छिड़ गया। लवकुश ने अपने बाणों द्वारा लक्ष्मण और भरत को हरा दिया व अन्त में राम को भी पराजय माननी पड़ी। जब युद्ध हो रहा था, उस समय सीता इस बात से सचेत थी कि युद्ध पिता-पुत्र

में हो रहा है। श्री राम पर सीता का अपना प्रेम होने पर भी उन्होंने इस भेद को लवकुश पर प्रकट होने नहीं दिया।

जगत में प्रेम से जीना ही जीवन है और जो इस रहस्य को समझ लेता है, उसके लिए झाड़ू देना, युद्ध करना और दण्ड देना सभी प्रेम के अन्तर्गत होते हैं।

प्रेम का बन्धन, बन्धन नहीं बल्कि बन्धन से मुक्त होने का उपाय है। इसलिए श्री सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा—‘तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन।’ तात्पर्य यह कि तेरा मधुर बन्धन ही मुक्ति है।

बन्धन तो वस्तुतः मोह में होता है, प्रेम में नहीं।



प्रेम नदी के तीरा

आधी रात प्रभु दरसन दीनो प्रेम-नदी के तीरा—यह मेवाड़ की परम भक्त मीराबाई के एक पद की अंतिम पंक्ति है। भक्तों की लोकोत्तर मस्ती की सभी सूझें निराली होती हैं। उनके भाव भी सब ओर होते हुए सर्वेश के चरणों में ही जा विराजते हैं।

यहां 'आधी रात' का तात्पर्य मौन और शांति का समय है, जबकि चारों तरफ सन्नाटा छाया रहता है। उस समय बहुत से लोग उठकर परमात्मा का ध्यान भी करते हैं। जिन्हें भजन-ध्यान के लिये निःशब्द एकान्त नहीं मिलता वे आधी रात के समय समुदाय में भी एकान्त की-सी शून्यता और शांति पा जाते हैं। कामी भी अर्धरात्रि का ऐसा ही समय चाहता है। काम (वासना) में और प्रेम में साधारण मनुष्य को कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, किंतु एक है अंधकार तो दूसरा है प्रकाश, एक नकली फूल है तो दूसरा है असली फूल, एक में दुर्गन्ध है तो दूसरे में सुगन्ध ही सुगन्ध है। वासना में आत्म-विनाश है पर प्रेम में आत्म-विकास।

कामी की दृष्टि

कामी की दृष्टि सतृष्ण होती। वह जहां भी जायेगा उसकी दृष्टि में काम ही भरा होगा। वह आत्मसौंदर्य न देख केवल अंग-सौंदर्य पर ही फिदा होगा। उसे भी भोग से विनष्ट करने की ही सोचेगा।

प्रेम की दृष्टि में एक प्रकार का अमृत निश्चरित होता रहता है। यह एक आत्मिक अद्वैत दृष्टि है जो अपने से अपने प्रेमी को भिन्न नहीं देखता। प्रेमी के अन्दर सद्भाव, शान्तता और सरलता आदि सभी गुण स्वयं ही आ जाते हैं। वह अपने उपास्य को अपना ही आत्मस्वरूप समझता है।

सहज नृत्य

मीरा भगवान के मंदिर में रात-रात भर जाग-जागकर उनसे बातें किया करती थीं। जब राणा किसी जासूस को भेजकर बाहर से पता लगाते तो उन्हें भ्रांति हो जाती कि वह अन्य किसी व्यक्ति से बातें करती है। किंतु मीरा तो अपने ध्येय को अपने सामने उपस्थित समझ आत्मविभोर होकर नाचती थीं। नाचने-नाचने में भी फर्क होता है। सीखा हुआ नाच अन्तरंग नहीं बहिरंग होता है किंतु अन्दर से निकला हुआ नृत्य सहज और स्वाभाविक होता है। इसकी तुलना कोई नहीं कर सकता। यह एक अद्वितीयानन्द की अभिव्यक्ति है। ऐसा नृत्य मनुष्य में तर्ज आता है जब कि वह स्वयं को बिलकुल भूल गया हो, देह-भाव से ऊपर उठ परमात्म-भाव में आ गया हो, उसने अपने “मैं” को भी परमात्मा में मिला दिया हो। उसका “मैं” अपने आप भगवान में मिलकर मिट गया हो। रह गया हो दोनों ओर केवल भगवान

ही भगवान, उस समय नाचनेवाला भगवान और नचानेवाला भी भगवान ही हो जाता है। मीरा के गिरिधर नागर मीरा के लिये मूर्ति न होकर एक चैतन्य सर्वेश थे। मीरा उनसे ही बोलती और उन्हें ही नाच कर प्रसन्न करती थी। वे ही उसके अन्तरात्मा थे।

हमें कुछ साधु उज्जैन के कुंभ में क्षिप्रा नदी के तट पर मिले। प्रातःकाल छः बजे धूमने के लिये हम निकले तो वहां पर देखा कि कुछ साधु धूनी रमाये हुये सुल्फा पी रहे हैं। मुझे जिज्ञासा हुई। मैंने उनसे पूछा कि आपकी साधना क्या है ?

वृत्तिनिरोध

उन्होंने बताया कि रात को हम दो बजे उठ जाते हैं। सुल्फा हमें नींद नहीं आने देती। उस काल जब बिलकुल सन्नाटा छाया रहता है, किसी प्रकार की आवाज नहीं आती, हम ध्यान में बैठते हैं।

मैंने पूछा, आप ध्यान किसका करते हैं ? तो उन्होंने बताया कि 'केवल सन्नाटे का।' बाहर के सन्नाटे का ध्यान करते-करते धीरे-धीरे हमारे मन में सन्नाटा छा जाता है। हमारी वृत्तियां लय हो जाती हैं। उस समय हमें एक विशेष आनंद की अनुभूति होती है। आनन्द वृत्ति-निरोध है। नशा भी वृत्ति निरोध का एवं अपने को भूल जाने का एक उपाय है, पर है तमपूर्वक, सुषुप्ति के समान; अतः मन्त शुद्ध सात्त्विक ढंग के निरोध को उत्तम मानते हैं। उसमें अपने को बेहोश करना नहीं पड़ता बल्कि आप ही वृत्ति निरुद्ध होती है। वृत्ति निरोध चाहे जैसे हो आनन्द-प्रद होता है।

रात का समय कामी और प्रेमी दोनों के लिए उपयुक्त है।

कामी के लिये आधी रात काम के आवेग की घड़ी होती है। योगी और भोगी दोनों को सुनसान ही चाहिये। यदि एकान्त हो तो कामी कामक्रीड़ा में ही रात बिता देता है, परमात्मा का प्रेमी परमात्मा के भजन में।

माधुर्य भक्ति

इस प्रकार जो प्रेमी मनुष्य सभी तरह से अपने आप का परमात्मा के प्रति समर्पण कर देता है, वह परमात्मा से एक हो जाता है। जो माधुर्य भक्ति के उपासक हैं उनके यहां पर परमात्मा ही एक पुरुष है। मीरा एक समय वृन्दावन मंदिर में दर्शन करने गयीं। वहां के दरवान ने मीरा को अन्दर जाने से रोक दिया और कहा कि मंदिर के अन्दर स्त्रियो का आना मना है। मीरा ने कहा कि मुझे तो यहां एक ही पुरुष दिखाई देता है। दूसरा तो दुनिया में कोई पुरुष ही नहीं है। फिर यहां दूसरा पुरुष कहां से आयेगा? जब पुजारी ने यह बात सुनी और इस मार्मिक रहस्य को समझा तो वह आकर मीरा के चरणों में गिर गया। मीरा की दृष्टि में गिरिधर गोपाल को छोड़, दूसरा कोई पुरुष ही नहीं था।

शांति का आनंद-रस

आधी रात का अर्थ मन का मौन और मन का सन्नाटा भी है। क्योंकि आधी रात में प्रायः यही स्थिति हो जाती है। जहां पर कोई विकार-विचार-संस्कार-व्यक्ति आदि नहीं रह जाते वहाँ केवल परमात्मा की अनुभूति मात्र ही शेष रह जाती है। इसी समय और ऐसी ही दशा में परमात्मा की अनुभूति होती है। हमारे मन के अन्दर भी विचारों का तूफान उठता रहता है। मन के संकल्प-विकल्प सर्वदा चलते रहते हैं। अगर हम सावधान

होकर बैठ जायें, केवल साक्षी होकर अपने ही अंदर उठते हुए विचारों को आप देखें तो विचार अपने आप विलीन हो जाते हैं, मन निर्विचार हो जाता है। जिस प्रकार रात्रि का सन्नाटा मन को शून्य बना आनन्दनिमग्न कर देता है उसी तरह हमें उस निर्विचार अवस्था में मन के वृत्तिशून्य हो जाने पर आनन्दानुभूति होने लगती है। हमें एक विशेष रस खींचने लगता है। हम उस शांति के आनन्द-रस में डूब जाते हैं। यही है आनन्दानुभूति द्वारा परमात्मा को पाना, जो कि मन के मौन होने पर प्राप्त होती है। हरि-प्रेम के प्रवाह के द्वारा प्राप्त हुआ वृत्ति निरोध अखण्डानन्द की ओर ले जाता है। मीरा को प्रेम समाधि में ही भगवान का साक्षात्कार होता था। प्रेमियों को प्रेम ही महायोग की आवश्यकता पूरी कर देता है। वे योगी से भी शीघ्र आत्मसाक्षात्कार कर लेते हैं।



प्रेम-समाधि

बम्बई से पश्चिम रेलवे द्वारा रतलाम-मथुरा-दिल्ली जाते हुए बड़ौदा पड़ता है। पहले यह बड़ौदा रियासत की राजधानी था।

मैंने बड़ौदा के राजमहल के चिड़ियाघर में एक शेर देखा जिसका नाम उसके रखवाले ने गंगाराम रखा था। गंगाराम प्रेमा-वेश में आकर अपना हाथ उसके मुंह में दे दिया करता था। शेर भी बड़े प्रेम से उसके हाथ को चाटता हुआ परम संतोष का अनुभव करता। यद्यपि दोनों विभिन्न देहों में तथा विभिन्न प्रकार के थे पर दोनों के नेत्रों में प्रेम की एक-सी ही अनुभूति होती थी। दोनों की आंखें एक दूसरे के प्रति आसक्ति दिखाती थीं। मैंने अचरज के साथ उस आदमी से पूछा कि तुम अपना हाथ उसके मुंह में दे देते हो, यदि कहीं वह तुम्हारे हाथ को काट खाए, तो तुम्हारी क्या दशा होगी ?

यह सुनकर उसने कहा कि बाल्यावस्था से ही मैंने इस शेर से प्रेम किया है। इसे समय-समय पर खिलाया-पिलाया है। इसकी सेवा की है। इसके स्वास्थ्य का ध्यान रखकर इसे इतना बड़ा

किया है। क्या इसमें आत्मा नहीं है? यह मुझे अपना समझता है, मैं इसे अपना। मेरी तो इसके साथ यहां तक मैत्री है कि मैं निर्भयता के साथ इसके पिंजड़े में भी घुसकर इससे प्यार करता हूं। कभी-कभी इसके साथ सो भी जाता हूं।

प्रेम में अद्भुत शक्ति

इससे ज्ञात होता है कि प्रेम में अद्भुत शक्ति है। शेर जैसा खूखार जानवर भी प्रेम के भाव और बोली को समझता है। उसी की प्रेरणा से अपना व्यवहार भी करता है। एक बार स्वामी रामतीर्थ जैसे महापुरुष को जंगल में शेर मिला। उन्होंने उसकी ओर प्रेम की दृष्टि से देखा। चमत्कार हो गया। शेर का हृदय और प्रेम से देखनेवाले उस महापुरुष का हृदय एक साथ प्रेम से भर गया। बुद्ध के जीवन में भी ऐसी बहुत सी घटनाएँ हैं। उनके जीवन के बारे में कहा जाता है कि जहां पर वे आ जाते थे, उसके दो-दो मील के दायरे में हिंसक पशु भी उनके शरीर की गंध सूँघकर अहिंसक हो जाया करते थे।

जहां प्रेम नहीं वहां भय

वास्तव में प्रेम में यह जगत भी रूपान्तरित हो जाता है। प्रेम के आगे भय ठहर नहीं कर सकता, जैसे कि प्रकाश के आगे अंधकार। भय है ही प्रेम के अभाव का नाम। जहां प्रेम नहीं होता, वहीं भय होता है।

प्रेम आत्मा एवं आत्मभाव का परिचायक है। प्रेम मन की एकाग्रता तथा आत्मभावना को बढ़ाता है। निजात्मा की व्यापकता का अनुभव कराता है। बीच के मैं-तू के किस्से को समाप्त करता है। प्रेम समाधि ही अनायास प्राप्त समाधि है।

व्यापक प्रेम - तत्त्व

तुलसी - साधना कुटीर, लोनावला में माली ने अंजीर का एक वृक्ष लगाया। एक दिन मैंने देखा कि उस वृक्ष की जड़ के साथ एक टूटी-सी पुरानी चप्पल बांधी हुई है। मुझे आश्चर्य हुआ कि वृक्ष के साथ चप्पल किसलिये बांधी गयी है ?

मैंने माली से पूछा कि अंजीर के वृक्ष से यह चप्पल तुमने बांधी या अन्य कोई किसी समय बांधकर चला गया है? माली ने बताया कि इसमें फल नहीं लगता, इसलिए ऐसा किया गया है। जो वृक्ष समय पर फल नहीं देता उसके लिए ऐसा करने की मालियों की परंपरा होती है।

मैंने पूछा, 'क्या ऐसा करने से फल लग जायेगा अथवा अन्य कोई लाभ होगा?' इस पर माली ने कहा कि अब इस पर अवश्य फल लगेगा। और, सच में ही कुछ समय के बाद वह वृक्ष फल देने लगा। इससे प्रतीत हुआ कि दंड की भाषा वृक्ष भी समझते हैं। उनमें भी प्राण है। वे भी मानापमान और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। वृक्ष के साथ चप्पल बांधना एक प्रकार का

दंड समझकर ही वृक्ष ने फल देना शुरू कर दिया ।

सब मनुष्यों, पशु-पक्षियों और वृक्षों में चेतन एक ही है । यही कारण है कि वृक्ष भी मनुष्य के अंतर्भाव को समझते हैं । समय पर अपने भाव अपनी विशेष कृतियों के साथ प्रकट भी करते हैं ।

कई वृक्ष बिजली का शॉक देने से सूख जाते हैं, हवा लगने से इन्हें प्रसन्नता होती है । तक्षक ने भी प्रथम डंक मार कर वृक्ष को भस्म करके दिखाया था । अनेक बातों में प्राणी के स्थान में लोग वृक्षों का उपयोग लेते हैं ।

वनस्पतियों में प्रेमानुभूति

एक बार विदेश में एक प्रयोग ऐसा हुआ । वहां दो फूलों के गमले एक ही जैसे वातावरण में रखे गये थे । एक के आगे प्रार्थना की गयी और दूसरे को ऐसे ही रखा गया । जिस गमले के आगे अभ्यर्थनाएं हुई थीं, उस गमले का पौधा दूसरे गमले से अधिक बढ़ गया । गमले में लगे वृक्ष पर हरियाली के रूप में प्रसन्नता चमकने लगी पर दूसरा जैसे-का-तैसा ही रहा । इससे यह बात सिद्ध होती है कि वनस्पतियां भी प्रार्थना के अन्तर्भाव को समझती हैं । यही कारण है कि समय-समय पर जड़ी-बूटियों की भी प्रार्थना की जाती है । वे विविध रूप से आश्चर्यजनक कार्य करती हैं ।

मान्यता है कि सभी देव एक समय वृक्षों के रूप में अवतीर्ण हुए एवं देवियां लता-पताका बन गयीं । अतः लोग इनमें देव और देवियों की भी भावना करते हैं । जीव-जंतु, पेड़-पौधों व वनस्पतियों में चेतन सत्ता एक ही है । उनमें किसी प्रकार की भिन्नता नहीं । इस कारण मनुष्य के अन्तर्भाव का प्रभाव पेड़-पौधों पर पड़े, यह बात स्वाभाविक ही है । व्रजयात्रा करनेवाले समझदार लोग.

किसी लता या फूल-फल को वहां नहीं तोड़ते । उनकी वहां ऐसी भावना रहती है कि महात्मा भक्त लोग लता-पताका बनकर रहा करते हैं ।

एक ही चेतन

एक बार कबीर ने अपने पोष्य लड़के कमाल को प्रातःकाल खेतों पर भेजा । वह सायंकाल तक नहीं आया तो कबीर उसको देखने के लिए खेतों में गये । वहां जाकर देखा तो आश्चर्यचकित हो गये कि कमाल ने खेती तो क्या काटनी थी, वह वहीं खेत के साथ झूम रहा था । हवा के झोंके पौधों को कभी दायें और कभी बायें कर देते थे । उन्हीं झोंकों के साथ कमाल भी स्वतः दायें-बायें झूम रहा था ।

कबीर ने पूछा—कमाल, तुमने खेती नहीं काटी ?

कमाल बोला—जब मैं यहां आया तो खेती प्रसन्नता के साथ झूम रही थी । उसके आनंद के साथ मुझे भी आनंद आया । मैं भी खेती के आनंद के साथ आनंद में झूमने लगा । पेड़-पौधे वनस्पतियों का प्रभाव मनुष्य पर होता है और मनुष्य का प्रभाव इन सब पर । क्योंकि सब के अन्दर चेतन एक ही है । मानव जंगम तथा ये स्थावर शरीरधारी हैं । अपने-अपने ढंग के दोनों देही हैं ।

कबीर ने गंगा में बहते एक मरे हुए बालक के शव को खुदा के कमाल से खड़ा किया । जब वह शव खड़ा हुआ तो वह स्वतः सिद्ध कमाल ही खड़ा हुआ । वह सबमें अपनी ही आत्मा का अनुभव करनेवाला था । खुद के समान खेती में भी तो कमाल की ही आत्मा थी । वह फिर क्यों न साथ झूमता ।

मजनूँ का प्यार

मजनूँ लैला पर आशिक था । किसी ने मजनूँ से पूछा कि तू लैला के पीछे क्यों मारा-मारा फिरता है ? अगर इतनी प्रीति तेरी खुदा में हो जाये तो तू सीधा बहिश्त में चला जाये ।

यह सुनकर मजनूँ ने उत्तर दिया कि मुझसे अगर ईश्वर को भी मिलना हो तो वह लैला के रूप में ही आकर मिल ले । नहीं तो न मिले ।

यह है एक सच्चे प्रेमी की अपने प्रेम पात्र के प्रति अकाट्य प्रेम-भावना । प्रेम आत्मभाव की एकत्व भावना की देन है, जो प्रत्येक में सर्वेश की झांकी कराती है । प्रेम प्रेमपात्र में ही पूर्ण परमात्मा दरसा देता है । प्रेमी अपने प्रियतम की एक-एक चेष्टा में सर्वेश की कृपा की झांकी देखता रहता है ।

प्रतीकोपासना

दूसरे शब्दों में कहें तो प्रेम एक प्रकार की पूर्ण प्रतीकोपासना है, जो प्रेमपात्र के रूप में परमात्मा को दिखाती है । प्रेमी आराध्य

की प्रसन्नता में ही परमात्मा की प्रसन्नता का अनुभव करता है । मज्जू की लैला के रूप में एक प्रकार की प्रतीकोपासना ही थी जिसने कि उसे द्वन्द्वातीत बना दिया था । जो सत्य व प्रेम मार्ग के दृढ़ पथिक होते हैं वे अपने आप द्वन्द्वातीत हो जाते हैं और अन्त में प्रेम पात्र के रूप में ही परमात्मा का साक्षात् हो जाता है ।



नवनीत आत्मा

एक बार ज्ञान हो जाने पर अज्ञान की निवृत्ति होते ही फिर दुबारा अज्ञान नहीं होता— जिस प्रकार दही से नवनीत निकलने पर वह दुबारा दही नहीं बनता । फिर वह नवनीत चाहे लस्सी के घड़े में पड़ा रहे या अलग, उसमें कोई अंतर नहीं पड़ता । इसी प्रकार ज्ञानी चाहे प्रवृत्तिपरायण रहे या निवृत्तिपरायण, वह तो सदा मन से निरासक्त व निर्लिप्त ही रहता है । दही संसार के तुल्य है । उसको जब अद्वैत की मथानी मथती हैं तो ज्ञान-नवनीत ऊपर आ जाता है । इस निकले हुए नवनीत को फिर से पानी में मिलाना चाहें तो उस पर कमल-पत्र की तरह पानी ठहरेगा नहीं । वह तो पानी में रहता हुआ भी पानी से निर्लिप्त ही रहेगा । अद्वैत की मथानी हो और प्रेम की रस्सी, तभी ज्ञान-नवनीत निकल सकता है । प्रेम हृदय का मंथन कर सारे विकार निकाल देता है, फिर उसमें से 'ज्ञान' नवनीत का प्रादुर्भाव स्निग्धता उत्पन्न कर देता है ।

नित-नव : नवनीत

नवनीत उसको भी कहते हैं कि जो नित नव ही रहे, कभी पुराना न हो। ये बिलकुल आत्मा के लक्षण हैं क्योंकि आत्मा कभी पुराना या जीर्णशीर्ण नहीं होती। वह नित्य नयी ही रहती है। इस कारण उसको नवनीत भी कह सकते हैं।

स्निग्धता का प्रादुर्भाव

जैसे नवनीत दूध का सार तत्त्व है, ठीक उसी प्रकार आत्मा मनुष्य-देह का सार तत्त्व है। नवनीत आत्मा है। जब संसार रूपी दही से आत्मा का मन्थन करके एक बार पृथक् के रूप में जान लिया तो फिर अन्य कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता। नवनीत से घी बनता है और घी में है स्निग्धता। भोजन इत्यादि में स्निग्धता भोजन की आत्मा है, जिससे सभी भोजन स्वादिष्ट बनते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के अंदर प्रकाशस्वरूप आत्मा ज्ञान-रूपी नवनीत की स्निग्धता भक्ति या विश्व प्रेम है। हमारी आत्मा हमें प्रेरणा तथा स्फूर्ति दे रही है। इसका साक्षात्कार जब हो जाता है उसी समय मानव के मन में स्निग्धता का प्रादुर्भाव होता है। वह विश्व के रूप में अपनी आत्मा को देखता हुआ सभी के साथ प्रेमपूर्ण वर्ताव करता है। वास्तव में ज्ञानी ही सच्चा प्रेम कर सकता है, जो कि सर्वत्र अपनी आत्मा को देखता हो।



खण्ड सात

मन - मन्दिर

● जल में नाव रहें तो कोई हानि नहीं, पर नाव में जल नहीं रहना चाहिये । साधक संसार में रहे तो कोई हानि नहीं, परन्तु साधक के भीतर संसार नहीं रहना चाहिये । ●

— रामकृष्ण परमहंस

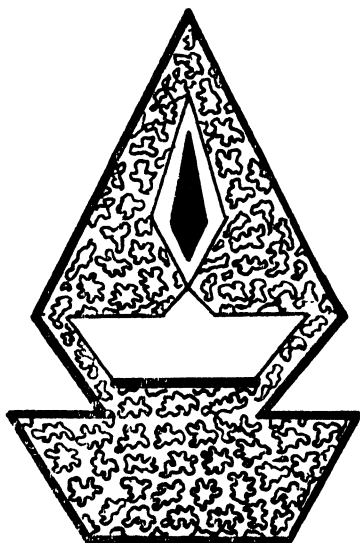
हमारे भीतर उसकी आवाज

बांसुरी से किसी ने पूछा कि तू आनंदकन्द श्रीकृष्णचन्द्र को इतनी प्यारी कैसे लगती है कि वे तुझे अपने मुख से सदा लगाये रहते हैं ? उसने उत्तर दिया कि मैं अन्दर से खोखली हूं। मेरा अपना कुछ भी नहीं है। मुझमें जिस तरह की प्रभु आवाज लगाते हैं वही मुझसे निकलती है, मेरी खुद की कोई आवाज नहीं। मेरी यह ध्वनि उन्हीं की है। मेरी नहीं है। शायद इसीलिए वे मुझसे इतना प्यार करते हैं।

बांसुरी प्रभु की प्यारी

वास्तव में जब मनुष्य अन्दर से निरहंकारी हो जाता है, तो वह प्रभु का प्रिय हो जाता है। उसकी आवाज के रूप में प्रभु की ही आवाज होती है। बांसुरी कहती है कि जंगलों में वांस परस्पर के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न करते हैं और जंगल-का-जंगल जला देते हैं। किन्तु मेरे में कोई संघर्ष नहीं है, क्योंकि मैंने पूर्ण-रूपेण प्रभु को ही सब कुछ समर्पित कर दिया है। बांस के अन्दर

गांठें हैं, किन्तु मुझमें कोई गांठ नहीं रह गयी है। मेरे अन्दर सात छिद्र हैं, जो कि मेरी सप्तभूमिकाओं को सूचित करते हैं, जिनके द्वारा मधुर स्वर निकलते रहते हैं। यह सब प्रभु की कृपा का ही फल है। हरि की निर्विशेष कृपा निरहंकारी अकिंचन पुरुषों पर ही होती है। जब हम सोलह आने उसके होंगे तभी हमारे भीतर उसकी आवाज होगी और हम वंशी के समान उसके समीप एवं प्रिय होंगे।



मन की गांठ

सायंकाल के समय तुलसी साधना कुटीर के तालाब में मैं स्नान कर रहा था कि सामने से कुछ गधे आते हुए दिखाई दिये जिन पर लड़के बैठे हुए थे। हमें छोटे तालाब के अन्दर की मिट्टी बाहर निकलवानी थी, इसलिए मैंने उन्हें आवाज दी— भाई गधे वाले! किन्तु जब उन्होंने नहीं सुना तो मैंने केवल “ओ गधे” कहकर पुकारा। वह रुक गये और पूछने लगे कि क्या काम है? गधे तो हमारी भाषा समझते नहीं थे, न उन्हें पता ही था कि उन्हें कोई पुकार रहा है, किन्तु गधे पर बैठे उसके मालिक ने मेरी इस आवाज को पहचाना। वह आया तथा बातचीत करने लगा।

शरीर भी इसी प्रकार से है। वह न स्वयं को जानता है न अन्य को। कौन उसे पुकार रहा है, उसे इसका पता नहीं, किन्तु उसके अन्दर बैठा परमात्मा है जो प्रत्येक आवाज को सुन रहा है। वही हमारी आंखों द्वारा देखता, कानों द्वारा सुनता, पांव द्वारा चलता व हाथों द्वारा देता-लेता है।

करण-कारण

अब कोई प्रश्न करे कि यदि वही सब कुछ करता-धरता है, तो हमें उसका पाप-पुण्य क्यों ? फिर यह पाप ईश्वर को लगना चाहिए, क्योंकि वही हमारे अन्दर करता-धरता है । किन्तु हमें जानना चाहिये कि अगर हम उसको करण-कारण मानते हैं तो हमें पुण्य-पाप नहीं लगता, किन्तु जब हम उसको करण-कारण न जानकर अपने को ही करण-कारण मानने लगते हैं, अपने में परिच्छिन्न अहंकृति करने लगते हैं तो पाप-पुण्य के भागी हम हो जाते हैं । मैंने यह किया, मैं न होता तो यह काम न होता, मैं बड़ा बहादुर हूँ, मैंने यह लड़ाई व मुकद्दमा जीता— इस परिच्छिन्न 'मैं' के कारण कर्ता-भोक्तापन की अहंकृति हो जाने के कारण उसका पुण्य-पाप भी हमें ही भोगना पड़ता है । अगर हम ईश्वर की वास्तविकता को भली प्रकार से समझ लें और उसी को करण-कारण मान लें, तो हमारे अन्दर कर्ता-भोक्तापन की प्रवृत्ति न होने के कारण हमें पाप-पुण्य नहीं लगे । जब हम कर्ता बनते हैं, तो भोक्ता भी बनना पड़ता है । यदि हम कर्ता नहीं हैं, तो भोक्ता भी नहीं । यह सिद्धान्त एकदम स्पष्ट है ।

बीरवल-अकबर की कहानियां लोक-प्रसिद्ध हैं । एक बार बीरवल गधे हांकते हुए शाही दरबार की ओर चला । सामने अकबर को देख जोर से चिल्लाने लगा, 'हुजूर गधे आ रहे हैं ।' इस वाक्य के दो अर्थ निकलते हैं । एक तो हुजूर अर्थात् अकबर गधे आ रहे हैं; दूसरा, हुजूर सावधान हो जाइये, गधे आ रहे हैं । बीरवल बड़ा बुद्धिमान व्यक्ति था । 'हुजूर' को 'गधे' शब्द से अलग कर दिया जाये, तो इसका तात्पर्य एक सूचना हो जाता

है और अगर हुजूर को 'गधे' शब्द के साथ मिला दिया जाये तो इसका तात्पर्य हुजूर को गधा बनाना हो जाता है ।

देह और आत्मा की ग्रन्थि

हुजूर अर्थात् परमात्मा सर्वत्र हाजिर है । उसको हम तत्त्वतः शरीर से भिन्न करके देख लें तो परमात्मा ही रह जाता है । उस शरीर में भ्रांति तभी तक है जब तक कि देह और आत्मा की ग्रन्थि नहीं खुलती । खुल जाने के बाद संसार में सत्य-दृष्टि नहीं रह जाती ।

अतः मनुष्य में अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए । यदि वह अपने को जान जाता है तो उसका हुजूर सर्वत्र हाजिर दीखता है । जड़ भी चेतन का बोध करा देता है ।



पागलपन का होश

एक मालिक ने अपने ड्राइवर की किसी गहरी गलती पर नाराज होकर उससे कहा कि 'तुम तो निरे गधे हो'। यह सुनकर ड्राइवर ने उत्तर दिया कि 'हुजूर, अभी पूरा गधा नहीं हूँ'। मालिक ने पूछा कि 'पूरे गधे कब बनोगे?' ड्राइवर ने उत्तर दिया कि 'आपके पास रहकर बाकी कसर पूरी हो जायेगी'। यहां मालिक ने तो उससे गधेपन के पूरे होने का समय पूछा था, किंतु ड्राइवर का उत्तर इस ओर नहीं था। उसके कहने का यह तात्पर्य था कि अभी मैं ड्राइवर के काम में कमजोर हूँ। यह कमी आपके पास रहते-रहते पूरी हो जायेगी।

ड्राइवर के उक्त कथन से प्रतीत होता है कि ड्राइवर को अपनी कमियों का भान था। जिसे यह होश है कि मुझमें यह कमी है, वह अपनी कमी प्रयत्न से पूरी कर सकता है। अतः उस ड्राइवर के कथन से मैंने सोचा कि जिसे होश है कि मैं पूरा गधा नहीं हूँ वह मानव गधा नहीं है, न हो ही सकता है। इसी प्रकार जिस पागल को इस बात का पता है कि मैं पूरा पागल नहीं हूँ, थोड़ा-

थोड़ा पागलपन मुझमें है, वह भी पागल नहीं बन सकता। पागलपन का होश रखनेवाला पूरा पागल नहीं है। जो भी उसमें पागलपन आया है, उस पर भी उसकी नजर है। वह अपने पागलपन के प्रति वाहोश है। अतः वह पागलपन का खयाल रखते-रखते उससे मुक्त हो सकता है।

अपने प्रति सजग

इसी प्रकार जब हमें अपने अज्ञान का ज्ञान हो जाता है कि हम अज्ञानी हैं, तो हम अज्ञानी नहीं रहते, न रह ही सकते हैं; क्योंकि हम अपने अज्ञान पर दृष्टि रखकर उसे दूर करने का भी प्रयत्न कर सकते हैं। अपने दोषों के प्रति सजग हो जाने से दोष ही नहीं रह जाते। दोष तभी तक है, जब तक कि हम उसके प्रति सजग नहीं हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सदा सोचना चाहिए कि मुझमें क्या कमी है और वह क्यों है। तभी वह धीरे-धीरे उन कमियों को भी दूर कर सकता है। अपनी कमी को दूर करने का मार्ग यही है कि वह अपने अनुभव में आ जाये कि मुझमें यह कमी है।

यह सच है कि कमियों पर दृष्टि रखने पर भी कमियां कमियां ही रहती हैं पर कालान्तर में धीरे-धीरे वे अवश्य चली जाती हैं। वे कमियां जो कि कमीवाले की निगाह में आ गयी हैं, उसे प्रभावित नहीं कर पातीं।

पागलपन का ध्यान रखनेवाला सदा पागल नहीं रहता। न कमियों पर ध्यान रखनेवाले में कमियां ही सदा रह जाती हैं। धीरे-धीरे उसकी कमियां स्वयं नष्ट होती चली जाती हैं। एक दिन वह व्यक्ति निर्दोष हो जाता है।

“ बाह्य वृत्तियां सब हमें
अवनति पर ले जाती हैं ।
तथा आंतरिक वृत्ति हमें
अनुभव पर पहुंचाती है ।
जब मन होता लुप्त तभी ही
यह निजत्व रहता है ।
जब होती अनुभूति स्वतः की
मन विलीन होता है । ”

(लेखककृत—“मन की शान्ति” से)

‘मन’ शब्द को उलट देने से ‘नम’ हो जाता है । जहां नमन होता वहां नम्रता होती है । जहां नम्रता होती है वहां उद्वेग नहीं होता । जहां उद्वेग नहीं होता वहां मन शान्त होता है ।

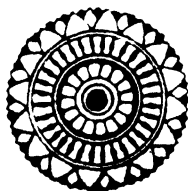


सुख का साधन एक

एक नवयुवक ने अपनी हर अवस्था में सुखी होने के लिए उन अभीष्ट पदार्थों की लिस्ट बनायी जिन्हें वह सुख का कारण समझता था। उसे ऐसी लिस्ट बनाने में कई महीने लग गये। जब लिस्ट तैयार हो गई तो वह उसको ले कर एक अनुभवी वृद्ध पुरुष के पास पहुंचा और बोला कि इसमें आराम की कोई खास चीज छूट तो नहीं गयी? वृद्ध ने उस लिस्ट को बड़े गौर से देखा और कहा कि इसमें एक बड़े महत्व की चीज रह गयी है। जिसके लिए ये सभी पदार्थ होते हैं अगर वही नहीं तो सारे पदार्थ भी किसी काम के नहीं रहते। वह है—मन की शांति। यदि मन की शांति नहीं तो भले ही कितने भी पदार्थ क्यों न हों किसी काम के नहीं। वे अच्छे भी नहीं लगते। जब मनुष्य का चित्त उद्विग्न होता है, तो उसे महात्माओं का सत्संग भी अच्छा नहीं लगता। यह सुनकर उस युवक ने अपनी लिस्ट में 'पीस ऑफ माइण्ड' लिख लिया और बाकी के सब काट दिये। नव-युवक ऐसी ही वस्तु प्राप्त करने वृद्ध पुरुष के पास गया था

जिसको प्राप्त कर लेने के बाद और कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं रह जाता । वह थी मस्तिष्क की शांति । वास्तव में जब तक मन की शांति नहीं तब तक किसी वस्तु का भी आनन्द नहीं उठा सकते । वास्तव में शांति में ही सुख है । शांति के बिना कहीं भी सुख नहीं मिल सकता ।

मुखी होने के लिये पहले शांति चाहिये । शांति के बिना सुख नहीं होता । मुखी होने के लिये जितनी मस्तिष्क की शांति की आवश्यकता है उतनी वस्तुओं की नहीं, क्योंकि सारी चीजें मन को शान्त करने का सामान्य उपाय हैं ।



मैं तो तेरे पास में

एक पति-पत्नी एक जगह गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे, किन्तु उनके घर में कोई औलाद न थी। पत्नी की अनुमति से पति ने दूसरी शादी कर ली। दैववश दूसरी स्त्री के एक बच्चा पैदा हुआ। पहली स्त्री ने उसे गोद लेकर अपना लड़का बना दिया। कालान्तर में पहली स्त्री के भी एक लड़का हो गया। पहली के लड़के को दूसरी ने गोद ले लिया। बच्चे आपस में खेलते रहते किन्तु जब आपस में झगड़ते तो बच्चे तो एक हो जाते, किन्तु उन स्त्रियों के मनों में राग-द्वेष बढ़ता जाता। राग-द्वेष यहां तक बढ़ गया कि वे अपने-अपने गोद लिए हुए बच्चे का ही लालन-पालन करतीं और दूसरी के बच्चे से द्वेष करतीं। यह द्वेष इतना बढ़ा कि इसकी भी कोई सीमा न रही। अन्त में उन दोनों ने एक दूसरे के बच्चे को जहर देकर मार दिया। इस प्रकार दोनों ने अपने ही पेट की संतानें मारीं और दोनों ही संततिहीन हो गयीं। हरा-भरा घर उजड़ गया।

हमारा निजानंद हमारा ही अपना अपनपा है किन्तु उसे अपना न समझकर हम दत्तक के समान लिए हुए इंद्रियों के विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का आनन्द मान लेते हैं। इसी के चक्कर में जीवन व्यतीत कर देते हैं। अन्त में एक दिन मृत्यु आ घेरती है। सारा रागद्वेष यहीं धरा रह जाता है। हम तड़पते हुए ही यहा से चले जाते हैं।

हमारा निजानंद

यहां समझने की तो बात यही है कि हमारा निजानंद हमी में है, इंद्रियों के विषयों में दुःख पाते हैं। निजानंद के निजी स्वरूप और उसकी उपलब्धि के सच्चे मार्ग को भूल जाते हैं। यह नहीं समझते कि निजानंद के सामने यह विषयानंद क्षुद्र है। यदि विषय मन को शान्त करके निजानंद की ओर न झुकाये तो वे निरानंद ही रहें। अतः सच्चा आनंद तो निजानंद ही है। उसी से सब कुछ है।



तेरे द्वार खड़ा भगवान

भगवान् तो हर एक के हृदय में विराज रहा है। तब यह कहना कि भगवान द्वार पर खड़ा है, एक प्रकार से भगवान को दूर रखना है। द्वार पर तो वह खड़ा होता है जो अन्य हो, स्वयं अपने से भिन्न हो किन्तु परमात्मा तो सर्वत्र एवं सर्वस्व है, उसी की सत्ता सर्वत्र काम कर रही है, उसी के होने से हमारा होना है। ऐसी परिस्थिति में भगवान को द्वार पर खड़ा कर देना कुछ हद तक भगवान को अपने से दूर कर देना है।

भक्त की भावदशा

पर भक्ति मार्ग की बात कुछ और है। भक्त भगवान की आराधना उसे अन्य समझकर ही करता है। वह समझता है कि भगवान व्यापक है और मैं परिच्छिन्न हूँ। भगवान सर्वज्ञ और मैं अल्पज्ञ हूँ। भगवान सर्वशक्तिमान है और मैं निर्बल हूँ, भगवान स्वतंत्र है पर मैं प्रभु की मर्जी के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। कहाँ प्रभु और कहाँ मैं ! प्रभु से मेरी बराबरी कैसे हो? भक्त की यह एक भाव दशा है, जिसके परिणाम स्वरूप भक्त

अपने अहं के अस्तित्व को मिटा भगवान का साक्षात्कार करता है जो कि उसका वास्तविक निजी स्वरूप है। वह उसी निज-स्वरूप भगवान में लीन हो जाता है। यह भी इसी प्रकार है जैसे निन्यानवे रुपये में एक रुपया मिला दिया जाय और वे पूरे सौ रुपये हो जायें। एक रुपया निन्यानवे में मिल जाये यह भक्ति है और निन्यानवे को एक में मिला देना यह वेदान्त दर्शन है।

वास्तव में भक्ति और वेदान्त की पराकाष्ठा एवं अन्तिम परिणाम एक ही है, चाहे भक्त भगवान में लीन हो जाये, चाहे भगवान को ही अपने अन्दर उतार ले। तात्पर्य केवल भगवान से एकत्व प्राप्त करना है।

भक्ति की गिनती दो से शुरू होती है और एक में अन्त होता है। भक्त द्वैत में रहकर भगवान की पूजा-अर्चना करता है, किन्तु उसका लक्ष्य वही है जो कि वेदान्त का है अथवा यह समझना चाहिये कि भक्ति से आत्मसाक्षात्कार की सभी बाधाओं का शमन कर भक्त अन्त में परिपूर्ण आत्मज्ञानी हो अद्वैत भाव को प्राप्त हो जाता है।

नजर और नजारे

एक आदमी दस की गिनती पर से विपरीत, दस से गौ, नौ से आठ की तरह एक-एक अंक घटाते-घटाते शून्य तक पहुँच जाता है। ऐसे ही जब मन शून्य हो जाता है तो भगवान तो रहते ही हैं। उनमें न देरी है और न दूरी। वह तो टकटकी लगाकर हमारी ओर चौबीसों घंटे ताकते रहते हैं। वे तो एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं करते। किन्तु हम ही अभागे ऐसे हैं—जो कि उनकी ओर नजर उठाकर भी नहीं देखते। हमारी नजर नजारों में घूम

रही है। जब तक नजर में नजारे हैं, तब तक नजर नजर को नहीं देखती। जब तक द्रष्टा दृश्यों को देख रहा है तब तक अपने द्रष्टापन को नहीं जानता। किन्तु ज्यों ही दृश्यों से मन खाली होता है अर्थात् मन संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है, विषय-विषयी भावरहित केवल द्रष्टा ही रह जाता है। यही है नजर से नजर को देखना।

भक्त देस की गिनती से आगे बढ़ता है। अर्थात्, ग्यारह, बारह, तेरह और अन्त में वह भगवान का अनुभव करता है। वहाँ पर पहुँचकर भक्त का मन और बुद्धि दोनों भगवान में लीन हो जाते हैं। भगवान के सिवा उसके आगे अन्य कुछ नहीं रह जाता है। वेदान्त प्रक्रिया से मन खाली होकर भगवान से भर जाता है। अर्थात्, भगवान उस खाली मन में उतरता है जिसमें वेदान्ती का स्वात्म ही ब्रह्म होता है। जब उसे स्वात्म साक्षात्कार होता है वही प्रभु का उतरना है एवं भक्ति की प्रक्रिया से भक्त भगवान में लीन हो जाता है अर्थात् लहर सागर में मिलकर सागर-रूप हो जाती है।

भिन्न सत्ता नहीं

वस्तुतः देखा जाये तो लहर की सागर से कोई भिन्न सत्ता नहीं। लहर को समुद्र से अलग नहीं किया जा सकता। लहर का अधिष्ठान समुद्र ही है। लहरें समुद्र में ही उठती हैं, वे समुद्र की ही हैं एवं समुद्र से ही हैं। अगर वेदान्त की परिभाषा में कहें तो समुद्र ही हैं। सागर की तरंगों से यह बात कहें कि 'तेरेद्वार खड़ा समुद्र' तो यह द्वार खड़ा वाली बात सागर और लहर में भिन्नता पैदा करती है। जब तरंग की सागर से कुछ भिन्न सत्ता ही नहीं है

तो बीच में द्वार को क्यों अड़ाते हैं। क्योंकि द्वार भी तो एक प्रकार से विभाजक ही होता है।

इसी प्रकार सोने के आभूषण से कहा जाय कि 'तेरे द्वार खड़ा है सोना' तो यह उक्ति भी यथार्थ नहीं है। सोने का आभूषण सोना ही है, जो कि आभूषण के रूप में होकर भी वास्तविक रूप से सोना ही रहता है। इसी तरह वास्तव में जीव भी तत्त्वतः ब्रह्म ही रहता है। घटाकाश के समान बुद्धयावृत्त ब्रह्म का नाम ही जीव है। विक्षेप और आवरण के समाप्त होते ही जीव फिर जीव नहीं ब्रह्म है।

बुद्धयावृत्त

अगर कोई तर्क करे कि मेरे फेफड़ों में जो हवा है वह बाहर की हवा से भिन्न है तो वह शायद कुछ मिनटों में ही दम घुटकर मर जायेगा। उसका जीना तभी तक है जब तक कि उसके प्राणों का एकत्व बाहर की हवा के साथ है, वही अन्दर और वही बाहर है। अन्दर की हवा को प्राण कहते हैं। बाहर के प्राण को हवा कहते हैं। इसी प्रकार बुद्धयावृत्त ब्रह्म को जीव कहते हैं और त्रिकालाबाधित, नामरूपोपाधि रहित जीव को ब्रह्म कहते हैं।

भगवान् द्वार पर खड़ा है, इतना भी समझना भक्ति की एक परम स्थिति है। भक्त को यह पता चल जाये कि भगवान् खड़े होकर प्रतीक्षा कर रहे हैं किन्तु हमने अपने मन की किवाड़ें बन्द कर रखी हैं तो इस बात की वेदना ही उसके मन के द्वार को खोल देती है। सगुण-साकार भगवान् उसके निर्गुण-निराकार स्वरूप का स्वयं ज्ञान करा देते हैं।

वेदना ही चेतना जगाती है

द्वार भी कोई अन्य नहीं है। भगवान के यहाँ कोई द्वार नहीं, केवल हमारे मन की कुछ संकुचित स्थिति ही द्वार रूप है, जिसको असंभावना का ताला लगा हुआ है किन्तु ज्यों ही हमें यह निश्चय हो जाता है कि भगवान बाहर खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं और मैं द्वार नहीं खोल रहा हूँ, तो इस प्रकार की वेदना ही मनुष्य की चेतना को जगा देती है। हृदय-द्वार खुल जाता है और भगवान का साक्षात्कार हो जाता है। जितनी तीव्र वेदना होती है, उतनी ही शीघ्र बुद्धि निर्मल होती है। नितान्त निर्मल अन्तःकरण में भगवान् उतरते अथवा भगवत् साक्षात्कार होता है। भक्त और वेदान्तियों के स्वात्मबोधक स्वयं भगवान होते हैं। वे ही विविध प्रकार दोनों को स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं। जब इन दोनों मार्गों में से किसी पर भी कोई व्यक्ति आरुढ़ होता है उसी समय से भगवान उसकी बुद्धिरूपी द्वार पर आ खड़े होते हैं।



मनोनाश

मन का कभी नाश नहीं होता, किंतु मन शांत हो जाता है तो संकल्प-विकल्पों का त्याग कर देता है। यही निस्तरंग भाव मनोनाश है। मन का धर्म संकल्प-विकल्प करना है। जब यह संकल्प-विकल्प करता है, तभी मन, मन कहलाता है पर जब संकल्प-विकल्प नहीं करता तो मन नहीं कहलाता। यही मनोनाश है। नष्ट हुआ मन नम जाता है।

मन को उलट देने से वह नम हो जाता है। इसका नम होना भी यही है कि इसकी दौड़ खत्म होकर इसकी अपनी कोई सत्ता नहीं रह जाती। यह मौन हो जाता है। मौन होते ही मन शांत हो जाता है।

मन दौड़ता रहता है

हमारा मन दौड़ता रहता है। हमारा उस पर कोई अधिकार नहीं है। वह निरर्थक चिन्तन करता रहता है। हम अपने मन के अन्दर एक काल्पनिक जगत खड़ा कर उसी के बारे में चिन्ता करते रहते हैं। यही है मन की व्यर्थ दौड़, जो कि जब तक खत्म नहीं होती तब तक स्वरूप की स्थिरता नहीं आती।

मन मारने से मरता नहीं, दवाने से दबता नहीं। हम जितना दवाते व मारते हैं, मन उतना ही उछलता है। मन गेंद की तरह है। गेंद को जितने जोर से दीवार में मारो उतने ही जोर से वह वापस लौटता है। इसी प्रकार मन को जितना टोको यह उतना ही चंचल होता है।

अगर किसी प्रियतम को कहो कि वह अपनी प्रेयसी को भुला दे तो वही जो उसके भूलने की चेष्टा है, उसे बार-बार याद कराने में सहायक हो जायगी। वह उतनी ही बार याद आयेगी।
अंदर से संकल्प उठे

एक आदमी शराब पीता है। हम उसे कहें कि शराब पीना छोड़ दो तो वे तब तक नहीं छोड़ सकते, जब तक कि उनके अन्दर से दृढ़ संकल्प न उठे। मानसिक तितिक्षा शराब के स्वाद को भुला न दे।

ऐसे लोग भी देखे गए हैं जिनके अन्दर घृणा के साथ संकल्प-दृढ़ता आती है। वे तुरंत भी व्यसन को छोड़ देते हैं। चाहे फिर कुछ भी हो।

मन के प्रति सजग

मन का नाश यही है कि हम मन के प्रति सजग हो जाएं। मन के अन्दर क्या विचार उठ रहे हैं, उनके प्रति तटस्थ होकर उन्हें देखें। हमारी बिचारों के प्रति तटस्थता तावात्म्य तोड़ देगी। मन निर्मल हो जायेगा। निर्मल मन मौन होता है। शान्त मन का नाम ही मनोनाश है।

मन उजियारा तो जग उजियारा

मन को निज प्रकाश में ले आना ही मन का उजियारापन है । जब मनुष्य का मन निजप्रकाश में आ जाता है, तो उसका स्पन्दन शीतल पड़ जाता है । वह जो बन्दर की तरह एक डाल से दूसरी डाल, एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष में कूदता फिरता था, स्थिर होकर बैठ जाता है । मन के अन्दर विचार उठते ही तब हैं जब कि हमारे अन्दर वासना जोर मारती है । विचार वासना का परिणाम है, जोकि विचारों को जगह देती है और जितनी तीव्र वासना होगी उतने ही अधिक विचार आयेंगे और जितनी शिथिल वासना होगी, उतनी ही देर के बाद विचार आयेगा । विचार आते ही तब हैं जब हम अपना तादात्म्य विचारों से जोड़ देते अर्थात् विचारों के साथ अपना एकीकरण करते हैं । विचारों के साथ हमारी पृथकता जाती रहती है । उनके साथ हम इतने घुल-मिल जाते हैं कि विचारों के साथ हमारा किसी प्रकार का अलगाव नहीं रह जाता । और जहां लगाव होता है, वहां तनाव का होना अनिवार्य है ।

हाय मैं मर गया

जब हम किसी के साथ संबंध जोड़ लेते हैं, तो हम उसके दुःख-सुख में दुःखी-सुखी भी होने लगते हैं। यहां तक कि यदि हमने पैसे के साथ संबंध जोड़ लिया और कोई हमारा पैसा मार ले तब भी हम कह उठते हैं कि हाय, मैं मर गया !

एक मनुष्य का अपनी धर्मपत्नी के साथ झगड़ा होता था। वे बात-बात में लड़ते। उन्होंने घर को कलह-क्लेश का अड्डा ही बना रखा था। साधु-संत उसे समझाते, पर वह नहीं समझता। विधाता के लेख के अनुसार पत्नी चल बसी। पुरुष अकेला रह गया। अब जो कोई सन्त-महापुरुष से वह मिलता तो उसके सामने फिर रो उठता। सन्त ने कहा कि कलह-क्लेश करनेवाली तो चली गयी, अब क्यों दुःखी हो ? वह उत्तर देता अब मैं इसलिए दुःखी हूं कि अब मुझसे लड़नेवाला कोई नहीं। पहले तो इस मनुष्य ने पत्नी के साथ कलह-क्लेश को दुःख का कारण बना लिया और अब वह पत्नी के अभाव से तादात्म्य जोड़कर उसके अभाव में दुःखी है।

विचारों से तटस्थता

अक्सर यह अनुभव किया जाता है कि विचार क्या उठते हैं, कहाँ उठते हैं, इस बात का हमें कभी ध्यान ही नहीं। अज्ञान यही है कि विचार हमारी अज्ञान दशा में एवं न जानने में उठते रहते हैं। हम उन विचारों के प्रति सजग नहीं और हमारे सजग न होने के कारण विचार प्रबलता पकड़ते जाते हैं और हमें इस बात का पता नहीं चलता। हमें इस बात का पता नहीं चल सकता कि अगले क्षण क्या विचार आयेगा। हमें इस बात

का पता चल सकता है कि इस क्षण क्या विचार आ रहा है । जब इस क्षण के एक विचार का पता चल जाता है तब हम उससे उसी तरह तटस्थता बनाये रख सकते हैं और विचारों से लगावरहित हो जा सकते हैं । इस प्रकार विचारों से उत्पन्न तनाव से हम मुक्त हो सकते हैं । यह है मूलतः सत्य, जिसका अनुभव कोई और कभी भी कर सकता है ।

अगर हम केवल वासना और कामना को काटते रहेंगे और जबरदस्ती उसे दबाते रहेंगे, तो हमारा काम नहीं बनेगा । जैसे वृक्ष की टहनियाँ और पत्ते काट दें तो वे फिर उग आते हैं, क्योंकि वृक्ष की जड़ पृथ्वी में है और वह उस वृक्ष को शक्ति देती रहती है जिससे टहनियाँ व पत्ते फिर आ जाते हैं उसी प्रकार हम कामनाओं और तृष्णाओं को काट देते हैं परन्तु उनसे मुक्त तब तक नहीं हो सकते जब तक कि मन में नयी वासना को हम अपने निज उजियारे में नहीं ले जाते हैं । जब हम उन्हें उजियारे में ले जाते हैं तो वे वासनाएं स्पष्ट दिखाई देती हैं, फिर उन वासनाओं के स्पष्ट दीखने के कारण उनका उन्मूलन हो जाता है ।

निर्मल मन

जो मनुष्य मन को अपने उजियारे में ले आता है या उस उच्च सत्य को निहारता रहता है, उस मनुष्य के मन में उठते विचार विलीन हो जाते हैं, मन निर्मल हो जाता है और निर्मल मन में जगत निर्मल अर्थात् निर्दोष हो जाता है । ऐसे मनुष्य के लिए सभी परमात्मा के रूप हैं, सभी एक हैं, बराबर हैं, ऊँच-नीच की भावना नहीं अर्थात् अहंकार नहीं । वह तो केवल उज्ज्वल हो जाता है और उसका मन उजियारा होने पर जग उजियारा हो जाता है ।

मन की चाल

मनुष्य अपने मन को व्यर्थ ही दोष देता है। असल में मन का कोई दोष नहीं है, क्योंकि मन को हम जिधर लगायेंगे वह उधर ही लगेगा। मन को काबू में लाने की यह युक्ति है कि मन को मनाया जाये, न कि मन को मना किया जाये। मन को रोकने से मन उपद्रव खड़े करता है। पर द्रष्टाभाव से जब हम उसे देखने लगते हैं तो वह अपने आप उछलना-कूदना बंद कर शांत हो जाता।

एक राजा ने एक साथ कई अरबी घोड़े खरीदे। उन्हें खूब अच्छी तरह से खिला-पिला कर तगड़ा किया और इस बात की घोषणा कर दी कि जो कोई घुड़सवार इन घोड़ों पर सवार होकर तीस मील के घेरे में चक्कर काटकर राजधानी में पहले वापस आयेगा उसे सिपहसालार बना दिया जायेगा। इसे सुनकर बहुत से घुड़सवार इस आशा में आगे तो आए लेकिन किसी की भी इतनी हिम्मत न होती थी कि उन घोड़ों पर सवारी करें, क्योंकि वे घोड़े इतने उद्दण्ड और राहजोर थे कि किसी के भी काबू में नहीं आते थे। इधर राजा ने भी एक दिन मुकर्रर किया औ-

सात सवार घोड़े पर सवार होकर निकले । कई सवार घोड़े को एड़ लगाते, घोड़े को भगाते, गिरते-पड़ते, लहू-लुहान हो थककर चूर हुए आये, आते ही गिर पड़े । उनमें उस समय बात करने की भी शक्ति नहीं रही । एक घुड़सवार ऐसा भी था जो मन-तुरंग घोड़े पर सवार न होकर घोड़े के साथ-साथ चलता रहा । जहां घोड़ा रुकता था वहीं वह भी रुक जाता था और जहां वह सवार घोड़े का रुख शांत देखता, वहीं उसकी पीठ पर चढ़ता था । वह समय पर घोड़े को हरी-हरी घास भी खिलाता था । धीरे-धीरे उस सवार के साथ घोड़ा हिलमिल गया । घोड़े को निश्चय हो गया कि यह सवार प्रेमी है, मेरा मित्र है । अतः घोड़ा स्वयं सवार के अधीन हो गया । जब परीक्षा का दिन आया तो घुड़सवार घोड़े पर बैठा । वह समय पर संध्या होने से पहले ही राजधानी पहुंच गया । राजा को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि जब दूसरे सभी सवार लहू-लुहान होकर बेहोश पड़े हुए हैं तब यह कैसे हंसता-गाता घोड़े पर सवार होकर सानंद आ गया । राजा ने समझ लिया कि घोड़े को काबू करने की युक्ति यह जानता है । मन भी एक प्रकार का घोड़ा है । शास्त्रों ने मन को भी घोड़े की उपमा दी है । अगर हम उसका निरीक्षण करें, उसकी देखभाल करें तो कोई कारण नहीं कि वह हमारे वश में न हो जाए । जब हम उसके साथ जबरदस्ती करते हैं तो वह और भी उद्‌ण्ड हो जाता है, हमारा कहना नहीं मानता, हमारी अवज्ञा करता है ।

एक वीर साधक ने अपने पांव से रस्सी बांधकर अपने को वृक्ष पर उलटा लटका दिया । दूसरा कोई साधक उसके पास से जब गुजरा तो उसने लटकनेवाले साधक से पूछा, क्यों भाई, यह कौन सी साधना हो रही है ? लटकनेवाले साधक ने जवाब दिया,

‘मैं मन को सीधा करने की साधना कर रहा हूँ।’ इस पर दूसरे साधक ने कहा, “अरे मूर्ख! जिसको तू सीधा करना चाहता है, उसी ने तो तुझे उलटा लटकवा दिया है।”

साधक को मन की चाल समझ में आ गयी। उसने अपनी साधना झट बदल ली और वह मन का उन्मनी भाव चाहने लगा। उसके साथ जबर्दस्ती करनी छोड़ दी।

जबर्दस्ती करने से मन और जबर्दस्त हो जाता है। मन के साथ प्रेम करने से मन भी अपना परम प्रेमी हो जाता है। मन को देखने से मन में ही मन लय हो जाता है। इस कारण समझदार सवार की तरह मन का निरीक्षण करने पर मन अधीन हो जाता है अन्यथा मनुष्य ही प्रतिक्षण मन के अधीन होता जाता है। मन जब शान्त हो तो मन से ही मन को भगवान के चरणों में लगा देना चाहिये। इस प्रकार धीरे-धीरे मन शान्त और भगवान के चरणों में अपने आप लगता जाता है। अन्त में शान्त और एकाग्र मन की सहायता से साधक अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

एक बार एक साधु की कढ़ी खाने की बड़ी उत्कट इच्छा हुई। उसने बड़े चाव से कढ़ी बनाई। फिर इतनी खाई कि और खाने की इच्छा न रही। मन में यह एक सबसे बड़ा गुण भी है कि किसी वस्तु से जब सच्चा विरक्त हो जाता है तो फिर कभी उधर दृष्टि भी नहीं डालता। अतः मन के निरोध से पहले बेराग्य और विवेक प्राप्त करे। यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि मन मारे से नहीं मरता न निवृत्त करने से निवृत्त होता है किंतु जब आग्रह छोड़ जाता है तो मन आप ही शान्त, तृप्त एवं निवृत्त हो जाता है।

श्रद्धा या वाच्य विलास !

मेरी दृष्टि में पत्नी श्रद्धा का दूसरा रूप है। पति के प्रति श्रद्धा है तो पत्नी है। पत्नी में जितनी श्रद्धा है वह उतने ही दरजे की पत्नी है। पत्नी जो अपने पति में श्रद्धा रखेगी वह परमेश्वर पर भी अवश्य ही श्रद्धा रखेगी। इस तत्त्व को समझे बिना एक व्यक्ति ने किसी महात्मा से कहा कि मेरी पत्नी मेरी धर्म-साधना में श्रद्धा नहीं रखती। दूसरे दिन वे ही महात्मा उस व्यक्ति के घर आ रहे थे कि द्वार पर उसकी पत्नी उन्हें मिल गयी। महात्मा ने उससे पूछा कि क्या सेठजी घर पर ही हैं ? पत्नी ने उत्तर दिया कि नहीं, वे तो सट्टे बाजार में गये हुए हैं।

यह बात उसके पति ने सुन ली, जो कि उस समय घर में ही था। वह खिड़की में से सिर बाहर निकालकर कहने लगा कि महाराज, मैं घर पर ही हूँ। मैं उस समय ध्यान में बैठा हुआ था। मेरी पत्नी ने आपको गलत कह दिया है कि मैं घर पर नहीं हूँ।

पत्नी बोली—आप सच बताइये कि आप सट्टा बाजार में लिया-

दिया का ध्यान नहीं कर रहे थे ?

यह सुनकर पति को बड़ी लज्जा आयी क्योंकि जाहिर में तो वे हरि-ध्यान में बैठे थे, किन्तु ध्यान कर रहे थे सट्टे के लेने-देने का । उस समय पति महोदय को पता चला कि उनकी पत्नी अध्यात्म-विद्या में बहुत आगे बढ़ी हुई है, मेरा तो केवल श्रद्धा का ढोंग ही था ।

श्रद्धा हृदय की वस्तु

सच्ची श्रद्धा कुछ और होती है । वह मन में होती है, कहीं नहीं जाती न प्रकट ही की जा सकती है, क्योंकि श्रद्धा मनुष्य के हृदय की वस्तु है । यह दिखावे की चीज कभी नहीं होती ।

श्रद्धा, प्रेम और विश्वास—ये तीनों अन्तर की चीजें हैं । मानव जब किसी के प्रति कोई अलौकिक कार्य कर बैठता है तो उससे अन्यो को यह प्रतीत हो जाता है कि अमुक व्यक्ति उस पर श्रद्धा रखता है । भाव बाहर की वस्तु नहीं हृदय की वस्तु है । यह कभी शब्दों में बांधा नहीं जा सकता । भाव जबान पर शब्दों में आ जाता है तो फिर भाव नहीं रह जाता बल्कि बुद्धि का प्रदर्शन एवं वाच्य विलास हो जाता है ।

आत्मीय भावना

दो हृदयों के मिलाप से पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आता है। दो शरीर होते हुए भी मन की एकता जहाँ होती है उसी गृहस्थ-जीवन में सुख-समृद्धि का निवास और लोक-परलोक में उत्थान होता है। जहाँ विचार भिन्न-भिन्न हैं, वृत्ति में स्वार्थ भरा हुआ है, वहाँ हृदयों का मिलाप कदापि नहीं हो सकता और न उनका उत्थान ही हो सकता है।

पति वह है जो पत्नी को पतित होने से बचाये। उसकी हर तरह से रक्षा करे और पत्नी वह है जो पति को पतन के गर्त से बचाये। परस्पर एक दूसरे की अनुकूलता एवं एक दूसरे के जीवन को सुखी बनायें, वही सच्चे पति-पत्नी हुआ करते हैं। जब आपस में एक दूसरे के सुख का ध्यान होता है तो अपने सुख का परित्याग हो जाता है, अपने सुख का दूसरे के सुख में समाहार हो जाता है। तभी गृहस्थी में सुख का अनुभव होता है। पत्नी अपने सुख और इच्छा में पति की इच्छा को मिला दे और पति भी अपने सुख को अपनी पत्नी की इच्छा और सुख में मिला दे तो उस गृहस्थ जीवन में स्वर्ग का-सा वातावरण अपने आप बन जाता है।

शान्ति का सन्देश

संसार को भारत देश शान्ति का सन्देश देता है। भारत शान्ति-प्रिय देश है। यह अपनी शान्ति भंग होने देना नहीं चाहता। यह दूसरे की शान्ति भी भंग नहीं करना चाहता। भारत स्वयं भी जीना चाहता है और दूसरों को भी जीने देना चाहता है। कबूतर को शान्ति का दूत माना जाता है। एक बार यदि यह किसी जगह को देख लेगा तो आकाश मार्ग से सीधे वहाँ पहुँच जायेगा। इसकी दृष्टि बड़ी तेज होती है। एक बार देखे हुए स्थान को यह कभी भूलता नहीं। यही कारण है कि पूर्व काल में लिखित सन्देश एक जगह से दूसरी जगह भेजने के लिए कपोत का उपयोग हुआ करता था।

‘कब-उतर !’—कबूतर का अर्थ है। कबूतर के रूप में भगवान कब उतर आयें, इसलिए हर मनुष्य को चाहिए कि प्राणी-मात्र के अन्दर भगवान के दर्शन करे। किसी के हृदय को ठेस नहीं पहुँचाना है, क्योंकि हर मनुष्य के हृदय में भगवान का निवास है।

आत्मप्रकाश में आया हुआ मन

शान्ति मनुष्य के अन्दर की वस्तु है, बाहर की नहीं। भौतिक पदार्थों से मिली हुई शान्ति तो क्षणिक है। बाद में मनुष्य फिर अशान्त हो उठता है। शान्ति की कद्र वही जानता है जिसने शान्त होना सीखा है। जो स्वयं अशान्त है, वह दूसरों को भी अशान्त करता रहता है। वह शान्ति की कद्र नहीं जानता।

संतोष में शान्ति है, वैराग्य में विवेक है। जिन्होंने शान्ति का अनुभव कर लिया है, उन्हें कोई अशान्त नहीं कर सकता, क्योंकि शान्ति हृदय की वस्तु है। आत्मप्रकाश में आया हुआ मन सब

शान्त रहता है।

शान्ति की बात प्रायः सभी देश करते हैं, किंतु बातें करने से शान्ति प्राप्त नहीं होती। शान्ति होती है दूसरों को अपने जैसा समझने में; एक दूसरे के विचारों को सम्मान देने में। अगर हम किसी को हलका समझते हैं तो 'हलका' शब्द उलट कर वही कलह का कारण बन जाता है। शान्ति चाहनेवाला आत्मीय भावना से सब को देखता है और इसी नाते सबके साथ प्रेम का व्यवहार करता है। जहाँ प्रेम है वहाँ द्वेष नहीं। जहाँ द्वेष नहीं, वहीं शान्ति विराजती है। राग उतना हानिकारक नहीं जितना द्वेष होता है। अन्तर्यामी की भावना पर आश्रित हुआ राग भी शान्ति का कारण बन जाता है।



मन - मन्दिर

जैसे राष्ट्रध्वज देश का प्रतीक है, इसी प्रकार एकाग्रता के लिए मूर्ति ईश्वर की प्रतीक है। हरा, केसरिया और सफेद इन तीनों रंगों के कपड़ों को मिलाकर तिरंगा राष्ट्रध्वज बनाया गया है। जब तीनों रंगों के कपड़े को राष्ट्रध्वज के रूप में सी दिया जाता है तब उस झंडे का अपमान अपराध बन जाता है। किन्तु मात्र कपड़े के रूप में अगर उस पर पांव भी पड़ गया तो कोई अपराध नहीं। जब कपड़ा झंडे के रूप में सिल जाता है, तो वह देश का प्रतीक हो जाता है। उसका मान-मर्दन देश के मान-मर्दन के समान है।

इसी प्रकार जब पत्थर की मूर्ति बनायी जाती है तो मूर्ति को बनानेवाला शिल्पकार जूते समेत उसकी छाती पर बैठकर छैनी-हथौड़े से उसे काट-काट कर बनाता है किन्तु वह मूर्ति जब पूर्ण-तया तैयार हो जाती है और उसकी मंदिर में विधिपूर्वक प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है, तो सबके पूजने योग्य हो जाती है। फिर तो कोई जूते समेत मंदिर के अन्दर भी नहीं जा पाता।

मन में मूर्ति

मंदिर उसे कहते हैं जो मन को अन्दर ले जाने का साधन हो। जिस मन्दिर में जाते ही मन स्थिर हो वही सच्चा मन्दिर है। मन्दिरों में सुन्दर-से-सुन्दर मूर्तियां लाकर रखी जाती हैं। उसका कारण यही है कि मूर्ति इतनी आकर्षक हो कि उसे देखते ही मनुष्य का मन समाहित होकर मूर्तिमान हो जाय, ठहर जाय।

जिस प्रकार कूप को देखकर जल का आभास होता है, उसी प्रकार जब हम मन्दिर को देखते हैं तो हमें भगवान की याद आ जाती है। वैसे भगवान तो सर्वव्यापक है, किन्तु किसी एक खास पवित्र स्थान में भगवान के मूर्तिमान दर्शन करना मन के अन्दर मूर्ति को स्थिर करना ही है। मूर्ति जितनी मन के अन्दर स्थित होगी, उतना ही मन समाहित होगा। इसके विपरीत, मूर्ति मनुष्य के मन के अन्दर जितनी अस्थिर होगी उतना ही उसका मन विक्षिप्त होगा। मन के अन्दर अंधकार का एक आवरण होता है, जिससे कि हमारे मन के अंदर मूर्ति का ध्यान करते समय अंधकार-सा छा जाता है और फिर हमारे मन में विक्षेप के कारण मूर्ति हिलती हुई दिखायी देती है। कभी ध्यान में आ जाती है और कभी चली जाती है।

विस्तार से एकाग्रता की ओर

मंदिरों के शिखर बहुत ऊंचे बनाये जाते हैं जिसका तात्पर्य यह होता है कि ऊंचे मंदिर देखकर मनुष्य के विचार भी ऊंचे हों। मंदिर नीचे से चौड़े और ऊपर से नुकीले होते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि विस्तार से एकाग्रता की ओर आना ही द्वैत से अद्वैत की ओर आना है।

मन की धूल

बहुत दिनों से बंद पड़े मकान को जब हम झाड़ने जाते हैं तो उसमें गर्दगुवार और भी तेजी के साथ उड़ने लगता है। वह नाक कान में भी चला जाता है। यहाँ तक कि झाड़ने वाला भी कोपित हो कर कहने लगता है कि इससे तो मकान कान झाड़ना ही अच्छा था। इसी प्रकार जब हम अपने मन के कमरे की धूल का अर्थात् विचारों का शोधन करने जाते हैं, तो उस समय और भी गन्दे-गन्दे खयाल आने शुरू हो जाते हैं जो पहले कभी नहीं आते थे। हम चिन्ता में पड़ जाते हैं कि ये गंदे विचार जो पहले कभी नहीं आये अभी क्यों आ रहे हैं ? जिस तरह कमरे को झाड़ने से धूल उड़ती है, उसी तरह मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करते समय ऐसे-वैसे विचार भी वेग पकड़ जाते हैं। कुछ देर निरीक्षण करने पर वह वेग उसी प्रकार स्वयं ठंडा पड़ जाता है जिस प्रकार उठती हुई धूल अपने आप बैठ जाती है।

विवेक आवश्यक

मन एक तो स्वयं शान्त और एकाग्र हो रहा होता है और

दूसरे उसे करने का प्रयत्न करना पड़ता है । जब यह स्वयं शान्त होता है, उस समय तो स्वयं ही एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है किन्तु जब व्यग्र और विक्षिप्त होता है उस समय इसे शान्त करने की आवश्यकता पड़ती है । उस समय अभ्यासी विवेक से अशुभ विचारों का त्याग और समाधान करके ही मन को शान्त होने का मौका प्रदान करता है । उस समय पहले-पहल बुरे विचार बहुत आते हैं फिर धीरे-धीरे मन स्वयं समाहित और शान्त होता चला जाता है । मन की बुरे विचाररूपी धूल को विवेक की वायु साफ कर देती है ।



समाहित मन

जिस प्रकार एक व्यापारी दूसरे व्यापारी से सलाह-मशविरा करके अपने विचारों की समीक्षा करता है उसी प्रकार साधक को भी यह आवश्यक है कि वह अपनी साधना को परखने के लिए अन्य साधकों से चर्चा करे। इससे अपने अन्तर की स्थिति का ज्ञान हो जाता है।

वास्तव में मन की समाहिता से ही तात्पर्य है। उसी समाहिता में सब कुछ होगा। मन की समाहिता मात्र आंख मूंद लेना ही नहीं है। आंख मूंद लेने से आंख की समाहिता होगी जो कि मन की समाहिता में सहायक तो हो सकती है किन्तु मात्र वही उपाय मन को समाहित करने का नहीं है। विचारों की उथल-पुथल—मन में उठते सकल्प-विकल्प इतने विस्तृत हो जाते हैं कि उनमें निज का तो कहीं पता ही नहीं रह जाता है। इस स्थिति को मनुष्य समझता भी है। यदि इसकी समर्थ समझ मनुष्य को न होती तो वह ऐसा कभी नहीं कह सकता कि 'आज मेरा मन दुखी है' या 'आज मेरा मन शान्त है' या 'आज मेरे मन में सुख की लहरियां हैं'।

जरूर कोई है

यह जो बातें हैं, इस बात को प्रमाणित करती हैं कि मन की वृत्ति को देखनेवाला जरूर कोई अन्य है, जिसे मन की इन तमाम स्थितियों का ज्ञान है तथा जो मन में उठते प्रत्येक संकल्प-विकल्प को जान रहा है। जैसे एक व्यक्ति याद आया, फिर उसकी दूकान याद आयी, उसमें बिकने वाले सामान की याद आई, इसके बाद याद आया कि उसका सामान अमेरिका का बना होता है, फिर अमेरिका स्मरण में आ गया, अमरीका का स्मरण होने पर वहां के रहवासियों का ध्यान हुआ—इस प्रकार यह जो तांता है, इससे तादात्म्यवाला मनुष्य इतना बेहोश हो जाता है कि उसे वर्तमान का होश ही नहीं रह जाता है। यहीं पर यदि प्राणी सजग हो जाए और उन विचारों से स्वयं को बद्ध न करे और केवल उन्हें अलग किनारे पर खड़े मनुष्य की तरह देखना शुरू कर दे तो वही विचार जो कि उसी की सत्ता से प्रबल थे, एकदम दुर्बल पड़ जायेंगे और मन शान्तिलाभ प्राप्त करेगा।

असल में मन को आनन्द चाहिए, ऐसा भी आनन्द नहीं जो क्षणिक हो। इसे जब तक आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी, यह कभी भी शान्त नहीं होगा। सच्चा आनन्द आत्मा में है, जो कि सब के पास है और जिसके लिए कहीं आना-जाना नहीं, केवल मन के सब प्रकार के विचारों को शान्त करना है।

भागदौड़ से विक्षिप्त

कोई महापुरुष हमारे घर आएँ, हम अपने परिवार समेत घर में बैठे रहें और उन्हें बैठने तक को न कहें, तो वह वहां से लौट

जायेंगे। इसी प्रकार मन में प्रभु तो है ही, बल्कि वह अपलक हमारी ओर झाँक रहा है, किन्तु हमें ही उससे मिलने की चाह नहीं है। प्रभु हमारे अन्दर झाँक रहा है और हम दुनिया की ओर झाँक रहे हैं। भाग-दौड़ से मन विक्षिप्त है तथा आनन्द से रहित है।

मन की कालातीत अवस्था जो है, वही अनुभूति की अवस्था है। जब वह प्राप्त हो जाती है, तो मन एकदम शान्त हो जाता है। शान्त मन में सुख का वास है।

मन को ध्यान में लगाने से जो लोग एकाग्रता चाहते हैं, उनके लिए ब्रह्मलीन श्री प्रेमपुरी जी का यह उपदेश लाभदायक है कि जो करो ध्यान से करो। करने में चाहे चलना ही क्यों न हो, चलो भी तो ध्यानपूर्वक। यदि मनुष्य ध्यानपूर्वक सँर भी करता है, तो वही सँर उसके लिए ध्यानयोग हो जायेगा। हम जो भी करते हैं, उसमें जब ध्यान नहीं होता है, तो वह करना निरर्थक हो जाता है। जैसे हम कर तो रहे हैं भोजन और सोच रहे हैं भूत की स्थिति अथवा भविष्य की योजना। यह जो बिना समय का चिन्तन है, इससे हमारा वर्तमान में जो भोजन का आनन्द है, प्राप्त नहीं हो सकता है। मनुष्य को वर्तमान में जीना चाहिए, क्योंकि ईश्वर वर्तमान में वर्तमान है और वह वर्तमान क्षणिक है—रुकनेवाला नहीं, उस न रुकनेवाले वर्तमान को यदि हम संभाल लेते हैं, तो उससे हमारा भविष्य भी उज्ज्वल हो जाता है और भूत भी। वर्तमान तो खोते चले जा रहे हैं और भविष्य को उज्ज्वल देखना चाहते हैं—यह संभव कैसे है?

मन को मारना भी नहीं है और रोकना भी नहीं है। उसे तो

केवल ध्यानपूर्वक देखना है। ध्यानपूर्वक देखा जानेवाला मन कभी भी व्यक्ति को गिरने नहीं देगा, बल्कि वह तो उसकी उन्नति में सहायक हो जायगा।

मन के साथ यदि कोई लड़ने लगेगा, तो उसकी कभी भी विजय नहीं होगी। इससे तो समझौता ही ठीक रहता है। इसे चैलेंज देना स्वयं को हानि में ही डालना है।

प्रभु का प्रसाद

मन जितनी गहराई में उतरता जाता है, उतना ही मनुष्य विचारशून्य होता है। विचारशून्य मन में से प्रमाद निकल जाता है और प्रमाद के निकलते ही प्रभु का जो प्रसाद स्वातंत्र्य एवं मुक्ति है वह सदा-सदा के लिए प्राप्त हो जाती है। प्रसाद मिलता है, वह मिलाया नहीं जाता। वह जब भी मिलेगा अन्दर ही मिलेगा तथा वह तभी मिलेगा जब कि मन विचारों से शून्य होगा अथवा हम द्रष्टा बनकर उसकी हर गति को देखेंगे और उससे तादात्म्य नहीं जोड़ेंगे। ऐसी ही स्थिति में मनुष्य आनन्द की अनुभूति कर सकेगा। एक बात और है। जब तक मानव इस अनुभूति की प्राप्ति नहीं कर लेगा उसे शान्ति भी नहीं मिलेगी जो कि उसे चाहिए ही, क्योंकि शान्ति का परम इच्छुक जीव जन्म-जन्मान्तरों में इसी की तलाश में भटक रहा है। जैसे ही यह प्राप्त हो जायेगा मनुष्य भी शान्त हो जायेगा।

शान्त मन में आत्मानन्द

वम्बई से लोनावला के बीच में जो हाईवे है उसके दोनों ओर समुद्र के सारे जल को क्यारियों में रोक कर और धूप में सुखाकर हजारों टन नमक बना दिया जाता है ।

जो लोग नमक बनाते हैं, वे कोई पानी में नमक डालकर बनाते नहीं । वे तो समुद्र के जल में जो नमक है, उसे ही निकालते हैं । इसी प्रकार सुख या आनन्द हमारे अन्दर डालना नहीं पड़ता, हमारे भीतर जो आनन्द है उसे ही निकाल हमें उसकी अनुभूति करनी होती है ।

समुद्र के जल में मिश्रित नमक खाने के काम में नहीं आता है, किंतु वही नमक जब धूप लगने पर पानी से अलग हो साफ हो जाता है तो सब उसे साग-सब्जी में डालते हैं । इसी प्रकार जब हमारे आत्माराम संसारी कर्मों के व्यवहार में तल्लीन रहते हैं, तब अपने आप को भूल जाते हैं । किन्तु हम अपने मन को जो कि आत्मज्योति के बाहर आने का द्वार है, यदि हम निर्विचार स्थिति प्राप्त कर बन्द कर देते हैं, तो फिर वही आत्मप्रकाश जो इन्द्रियों द्वारा निकलकर बाहर के विषयों को प्रकाशित करता था, अपने आपको प्रकाशित करने लगता है ।

आत्मानन्द ही शेष

नमक जिस प्रकार समुद्री जल से अलग कर देने पर भोजन के काम में आता है इसी प्रकार अपने आप को जब मन से अलग कर दिया जाता है, तो निजानन्द की अनुभूति होती है, क्योंकि उस समय सामने कोई विषय तो रहता नहीं। विषय की अहंकृति एवं विषयीपन भी नहीं रहता है। जहां विषय-विषयी भाव नहीं रह जाता वहां आत्मानन्द ही शेष रह जाता है।

मन को निर्विचार करने के लिए हमारा मन के प्रति तटस्थ होना आवश्यक है और जहां कोई विचार नहीं रहता वहां आत्माराम ही रह जाता है। मन आत्माराम में लग जाता है। मन या बुद्धि के सामने कोई विषय नहीं रहता। उस समय मन और बुद्धि अन्तर्मुख हो आत्मानन्द में निमग्न हो जाते हैं। अतः सारे आनन्द अपने ही भीतर हैं। आनन्द विषयों में कदापि नहीं है। हां, इच्छित विषय प्राप्त हो मन को शान्त करते हैं उस शान्त मन में आत्मानन्द की झलक आ जाती है। मानव अज्ञान के कारण उसे निजानन्द न मान विषयानन्द मानता है।

जिस प्रकार समुद्र के नमकीन पानी को धूप में सुखाकर उसमें व्याप्त नमक को अलग कर लेते हैं उसी प्रकार एकाग्र मन व्यापक आत्मा के आनन्द का अपने में अनुभव कर लेता है।



ਘਣ ਆਰ

ਆਤਮਯੋਤਿ

- अगर आप ईश्वर को देखना चाहते हैं
तो आपको ईश्वर बन जाना होगा ●

—बर्नार्ड शॉ

रज्जु-सर्प भ्रान्ति

रज्जु में सर्प की भ्रान्ति अज्ञान के कारण ही होती है । भय से त्रस्त प्राणी दुखी हो जाता है । यही क्यों, सभी दुःख अज्ञानता के ही कारण होते हैं । अज्ञान है अंतःकरण में इस कारण ज्ञान भी अंतःकरण में ही होगा । ज्ञान का अभाव ही तो अज्ञान है । अतः अज्ञान जहाँ होगा ज्ञान भी वहीं होगा । जिस प्रकार अंधेरे में सर्प की तरह दीखनेवाली रस्सी से सांप का भय हो जाने पर मनुष्य डर जाता है, भ्रमीभूत हो जाने के कारण बचने की कोशिश करता हुआ अंधेरे में दीवार से टकरा कर चोट भी खा लेता है, विलकुल यही परिस्थिति संसारियों की भी है । वे अज्ञानता के कारण अपने सुख स्वरूप को न जानकर दुःखी होते रहते हैं ।

भय की निवृत्ति ज्ञान से

रज्जु में सर्प का भ्रम दो कारणों को लेकर होता है । एक तो अंधकार और दूसरे, कोई भी सदृश वस्तु जो सर्प की आकृति का साम्य रखती हुई वहाँ पड़ी हो । अंतःकरण में पूर्व संस्कारों

के कारण रज्जु में सर्प का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। भ्रम की निवृत्ति रज्जु के ज्ञान से ही होती है—हाथ जोड़ने से नहीं, पूजा-अर्चना करने से भी नहीं। पर जब मनुष्य टार्च ऑन कर इस बात का निश्चय कर लेता है कि यह सर्प नहीं रस्सी है तो भ्रम और डर लेशमात्र भी नहीं रह जाता। तब फिर उस आदमी को डरने के लिए कोई सलाह दे या आदेश दे तो क्या वह डरेगा ? नहीं। जब उसने सही ज्ञान द्वारा भ्रम की निवृत्ति कर ली, तो भ्रम से उद्भूत दुःख लेशमात्र भी नहीं रह जाता।

इसी प्रकार मनुष्य को जब आत्मज्ञान हो जाता है तो माया-मय जगत की भ्रांति निवृत्त हो जाती है, जिससे मनुष्य में लेश-मात्र भी दुःख नहीं रह जाता। आत्मज्ञान जीव के अन्दर अलुप्त प्रकाश है, जिसका जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति किसी भी अवस्था में लोप नहीं होता। यह वह ज्ञान है जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है, जिसके जानने पर और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता।

भ्रमाधिष्ठान आत्मा की प्रतीति

जिस ज्ञान से हम संसार के सभी पदार्थों को जान जाते हैं, जिससे देखते-सुनते-बोलते-चलते हैं, वह है निज का ज्ञान, जिसका कभी अभाव नहीं हुआ और न होगा ही। किन्तु हमें माया के बल से, ब्रह्म-रूपी अधिष्ठान में माया के कारण भ्रम से दृश्य जगत प्रतीत होता है। भ्रमाधिष्ठान आत्मा की प्रतीति हो जाने पर भ्रांति नहीं रह पाती। कभी-कभी सोने के आभूषणों के रूप में आ जाने पर वैविध्य की भ्रांति हो जाती है और फिर हम उसे सोना न कह कर हार, जंजीर आदि नामों से पुकारने लगते हैं।

पर आभूषणों में सोना उसी तरह विद्यमान है जिस तरह कि उपादान कारण अपने स्वरूपभूत कार्यों में विद्यमान रहता है । हमारी दृष्टि आभूषण की डिजाइन पर है, आभूषण के उपादान पर नहीं इस कारण हमें सोना नजर नहीं आता । सोना तो हमें तब नजर आयेगा जब कि हमारी दृष्टि स्वर्णाभूषण की डिजाइन से ऊपर उठेगी । हम तत्त्व को जानने की चेष्टा करेंगे । 'रज्जु' के अज्ञान व भ्रम से ही अनिर्वचनीय 'सर्प' की उत्पत्ति होती है, इसी तरह आत्मा के अज्ञान से ही अनिर्वचनीय जगत और उसके दुःख की उत्पत्ति होती है । जब जगत की जड़ता मालूम हो जाती है तो जगत की भ्रांति निवृत्त हो जाती है । उस समय एक ब्रह्म ही दृष्टि में रह जाता है ।



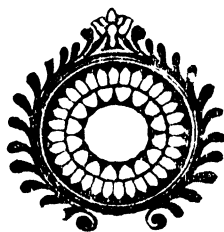
परम पुरुष का मौन व्याख्यान

एक महात्मा आध्यात्मिक प्रवचन दे रहे थे। उसमें प्रसंगवश उन्होंने कहा कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर में एक ऐसा पुरुष छिपा हुआ रहता है, जिसका कि कोई विशेषण नहीं हो सकता। वही उपाधिशून्य पुरुष शरीर की इंद्रियों में से बाहर आता है। उसी की वजह से सारी जानकारीयां भी हासिल होती हैं। जिन्होंने यह बात आज तक नहीं देखी वे अब देख लें। यह कह कर वे महात्मा एकदम मौन हो गये।

श्रोता प्रतीक्षा करते ही रहे कि महात्मा कुछ और कहेंगे पर वे शांत मौन व्याख्यान द्वारा लोगों को यह संकेत कर रहे थे कि जिस तरह मैं लोगों को प्रवचन करते-करते मौन हो गया हूं, आप भी पूर्ण रूप से मौन हो जाइये। मौन हो उस परम पुरुष को पहचानो, जो इस शरीर की खिड़कियों से झांक रहा है। अध्यात्म उपदेश का सच्चा मार्ग

वास्तव में अध्यात्म-उपदेश का सच्चा मार्ग मौन है। मौन की दशा में, जितनी वास्तविक आंतरिक वृत्ति होती है उतनी अन्य

स्थितियों में नहीं होती। मौन रहना पाण्डित्य की अंतिम कोटि है। यह आत्मचिंतन के समय ही होती है, अन्यथा नहीं होती। जिसमें सारे इंद्रियों के व्यापार भी मौन हो जायें, वास्तव में वही मौन की स्थिति है। यदि ऊपर से चुप रहकर भीतर से गुड़गुड़ाते रहे, तो फिर वह सच्चा मौन नहीं है। यह मौन तो बोलने से भी बदतर है। अतः मौन के समय सब ओर से सर्वत्र ही मौन हो जाना चाहिए, तभी सच्चा मौन हो सकता है। इंद्रियों के भी बाहर-भीतर के व्यापार जहां के तहां रुक जाने चाहिये। इसी के साथ मन भी शान्त हो। तभी समझो कि मौन हुआ। वास्तव में सच्चा मौन ही प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आत्मा का साक्षात्कार कराता है अतः मौन ही आत्मा का सच्चा व्याख्यान है।



स्वप्रकाश आत्मा

आग की छोटी और बड़ी चिनगारी स्वरूपतः आग ही है, क्योंकि दोनों तत्त्वतः आग ही हैं अतः एक हैं। यही कारण है कि एक छोटी सी चिनगारी से अग्नि प्रकट होकर उससे जंगल-के-जंगल, शहर-के-शहर जल जाते हैं। बाँस की पारस्परिक रगड़ से निकलनेवाली चिनगारियाँ महावनों को दग्ध कर देती हैं। सिगरेट की एक चिनगारी भयंकर रूप धारण कर लेती है एवं गोदाम के गोदाम भस्म कर डालती है, अतः चिनगारी भी उतनी महत्त्वपूर्ण है जितनी कि 'भयंकर आग'। आग का निजीपन है उष्णता, प्रकाश और श्वेत भास्वर रंग। यह उससे कभी भिन्न नहीं किया जा सकता। ऐसे ही आत्मा में सत-चित्त और आनन्द उसके निजी स्वरूप हैं।

प्राप्त की प्राप्ति का साधन

चिनगारी को जब अनुकूल हवा और सूखी कोमल लकड़ी मिलती हैं, तो वह विशाल अंग का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार जिस साधक को आत्मप्राप्ति के साधन के अनुकूल

अन्य साधन प्राप्त हो जाते हैं, उसे तत्काल आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। क्योंकि यह साक्षात्कार कहीं से लाना नहीं पड़ता, न उसके लिए कहीं जाने की ही आवश्यकता होती है। वह तो अपने में ही सदा नित्य-निरंतर अविरल भाव से अलुप्त, प्रकाश की तरह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा है। वही है आत्मा, जो कि सर्वदा प्राप्त है, एवं उसी का साक्षात्कार होता है। लेकिन चूंकि हमें आत्मा के अप्राप्त होने की भ्रांति हो गई है, अतः उस भ्रांति का निवारण करने के लिए नित्य प्रति प्राप्त की प्राप्ति का साधन करना आवश्यक हो जाता है।

जिस प्रकार पास में ही कहीं रखी हुई चीज को यदि भूले हुए मनुष्य को बताया जाये कि तेरी यह चीज इस जगह रखी हुई है तो वह कहने लग जाता है कि मैं अपनी खोयी हुई चीज पा गया इसी प्रकार नित्यप्राप्त आत्मा को भी जब साधक जान जाता है तो वह व्यवहार मात्र के लिए कहने लग जाता है कि आत्मा मिल गयी। वास्तव में आत्मा को पाना तो उसको जानना मात्र है। अन्य कुछ नहीं।



ज्ञानस्वरूप आत्मा

काष्ठ में छिपी हुई अग्नि प्रज्वलित होने पर ही प्रकट होती है । इसी प्रकार शरीर में रहनेवाली आत्मज्योति का प्रकाश भी ज्ञान से ही होता है । लकड़ी में आग है, किन्तु वह प्रकट तभी होती है जब उसका विधिपूर्वक घर्षण किया जाता है । यज्ञ में काष्ठ की अरनियों को मथकर ही अग्नि निकाली जाती है । इसी प्रकार जब मनुष्य ज्ञानी होकर मुलझ जाता है, तो उसकी सभी उलझने समाप्त हो जाती हैं क्योंकि ज्ञान हमारा निजी स्वरूप है ।

स्वात्मानुभव

हम अपने जिस स्वयंप्रकाश निजत्व से रूप-अरूप, कटु-मधुर, कर्णप्रिय और कर्णकटु शब्द, सुमसृण और कठोर स्पर्श, सुगन्ध तथा दुर्गन्ध को जान पाते हैं उसका नाम ही ज्ञान है । कोई वार्शनिक इस ज्ञान को सविषयक एवं आत्मा का विशेष गुण मानते हैं । पर वास्तव में यह ऐसा नहीं है । यह तो स्वयं-प्रकाश-स्वरूप स्थित स्वयं है । अनन्त आनन्द इसी में बंधे हुए है । सभी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय बुद्धि को लाकर देती हैं । तभी बुद्धि:

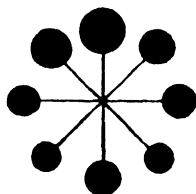
में विषय का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। आत्मा के चैतन्य रूप अपने का उस पर अनुग्रह हो जाता है। उसी समय वह स्वयंप्रकाशी ज्ञान-स्वरूप-आत्मा से प्रकाशित होता है। इसी का नाम विषयानुभव है। पर जब बुद्धि में विषय नहीं रहते हैं तो बुद्धि के माध्यम से अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को ही आप प्रकाशित करता है। इसी का नाम स्वात्मानुभव है। यह बुद्धि के माध्यम से अपने आप अपना अनुभव होता है। यही अंतिम आत्मानुभव है।

मनुष्य के अंदर बुद्धि में ज्ञान तो नित्य निरंतर बना रहता है। इसका कभी भी अभाव नहीं होता। ज्ञान अपने से भिन्न कोई वस्तु नहीं। यही अपना अपनपा है, जो कि अपने से कभी भिन्न नहीं होता। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओं में समान रूप से विराजमान रहता है। जाग्रत में इसी से इंद्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों का निरीक्षण होता रहता है। स्वप्न-अवस्था में हम इसी ज्ञान के अंतर्गत एवं इसी के बनाये हुए स्वप्न संसार को देखते हैं। स्वप्न में स्वप्न के पदार्थों के रचयिता भी हम ही हैं, अन्य कोई नहीं एवं दृष्टा भी हम ही स्वयं हैं। किन्तु इस बात का ज्ञान हमें स्वप्न में नहीं रहता कि हम ही इस सृष्टि के कर्ता एवं द्रष्टा हैं। जाग्रत के समान स्वप्न में भी हम अपने आपको परिच्छिन्न (एकदेशी) एवं दुःखी-सुखी मानने लगते हैं। इसी अज्ञान के अंतर्गत रहते-रहते सुषुप्ति रूपी प्रगाढ़ निद्रा में भी हम चले जाते हैं। वहां अज्ञान पूर्वक आत्माद्वैत या एकीभाव का आनंद लेते हैं। वहां पर हमारी अति अंतर्मुखी निद्रा वृत्ति होती है, तभी बाह्याभ्यन्तर को भूल, आनन्दमय आत्मा के आनन्द में निग्न हो जाते हैं। वहां पर कुछ न प्रकाशने पर भी हम ही प्रकाशित हैं जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं का प्रेरक, प्रकाशक

स्वयं ही प्रकाश है। वह हमारा निजी ज्ञान ही है। हम उसी के प्रकाश में एवं उसी के रूप में इंद्रियों द्वारा उत्पन्न किये हुए इंद्रियों के भिन्न-भिन्न विषयों का अनुभव करते हैं।

ज्ञातापन भी उसी के अधीन

ज्ञान सदा प्रकाशमान रहनेवाले सूर्य के समान अलुप्त प्रकाश है वह ज्ञान सब को प्रकाशता है, पर ज्ञान को कोई प्रकाशित नहीं करता, वह तो स्वयं ही प्रकाश है। वह स्वयं कुछ नहीं करता किन्तु बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुए पदार्थों पर उसकी छाप खुद ही पड़ जाती है। यह बुद्धि प्रतिबिम्बित पदार्थों पर अपने अनुभव की छाप अवश्य लगा देती है। तभी यह चीज हमने जान ली, ऐसा अनुभव होता है। अतः हमारा ज्ञातापन भी हमारे उसी ज्ञान के अधीन है जो कि हमारा अपना आपा है। उसे जाने लेने के पश्चात् कुछ भी बाकी नहीं रहता।



मनुष्य की शक्ति और आत्मज्योति

जिस प्रकार इस शरीर में मनुष्य को उसकी शक्ति दीखती नहीं किन्तु वह उस के अनुभव और उपयोग में अवश्य आती है उसी प्रकार आत्म-ज्योति दीखती नहीं, वरन देखती है। मनुष्य नाव को धक्का लगाता है या उसे खींचता है तो उसके धक्का लगाने या खींचने से नाव नदी के इस पार से उस पार आती-जाती है, जिससे हम अनुमान करते हैं कि मनुष्य की शक्ति ने यह काम किया। वैसे ही अगर शक्ति को दूरबीन लगाकर या शीशा लगाकर देखना चाहें तो वह नहीं दीखेगी। चूँकि शक्ति से धक्का लगता है और शक्ति से मनुष्य खींचता है तो इससे हम शक्ति का अनुमान करते हैं।

आत्मा के ही कारण

इसी प्रकार हमारा देखना, सुनना, बोलना, चखना, चलना और फिरना यह सब आत्मा के ही कारण हो रहा है। हम आत्मा की सत्ता से देखते-सुनते, बोलते और समझते हैं कि आंखें देख रही हैं, पांव चल रहे हैं, जिह्वा चख रही है, हाथ पकड़ रहे हैं। इन कार्यों के करने में अगर प्रेरक शक्ति आत्मा न हो तो कान

सुन नहीं सकते, आंखें देख नहीं सकतीं, पांव चल नहीं सकते, जिह्वा चख नहीं सकती और हाथ पकड़ नहीं सकते। जिस प्रकार मधु के छत्ते में रानी मधुमक्खी के साथ सभी मधुमक्खियां आती-जाती हैं इसी प्रकार आत्मा के साथ ही इंद्रियां, प्राण और सूक्ष्म तत्त्व आते-जाते हैं।

किसी गृहस्थ की माता का देहान्त हो जाने पर परदेश से उसका बड़ा भाई आया। उस समय छोटा भाई बड़े भाई से कहने लगा कि “माताजी तो चल बसीं”। यहां माताजी का शव तो सामने पड़ा है और वह कहता है कि “माताजी चल बसीं।” तो यहां ऐसा कौन सा तत्त्व था जो माताजी कहलाता था जिसके चले जाने से वह माताजी का शरीर रहते हुए भी ‘माताजी चल बसीं,’ ऐसा कहता है ! यहां विचार कर देखा जाये तो वह थी उसकी जीवात्मा, जिसके निकल जाने के कारण माताजी का शरीर, आँखें, नाक, कान सबकुछ होते हुए भी निरर्थक हो गये।

जीवात्मा

शरीर को सार्थक बनानेवाला जीवात्मा है। इसी के कारण हम सबकुछ कर रहे हैं। जिस प्रकार धक्का लगाना मनुष्य की शक्ति का ही काम है, इसी प्रकार मनुष्य के अन्दर के सभी कार्य एवं इंद्रियों के सभी व्यवहार, मन का संकल्प-विकल्प और बुद्धि का निश्चय इत्यादि जीवात्मा के कारण ही होते रहते हैं। शक्ति न देखने पर भी शक्ति के कार्यों से शक्ति का अनुमान ज्ञात हो जाता है। वैसी ही जीवात्मा भी है। सामान्यतः आत्मा का समाधि में अनुभव और साक्षात्कार होता है, जबकि ज्ञान-प्रसाद से सत्त्व विशुद्ध हो जाता है। शुद्ध सत्त्व ही आत्मा का साक्षात्कार कराता है।



शुद्धि और आत्मदर्शन

जिस प्रकार थाली में भरे पानी में चन्द्रमा के दर्शन हो जाते हैं उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण में आत्मदर्शन होता है। अतः अन्तःकरण की शुद्धि होना आवश्यक है, क्योंकि जिस प्रकार अशुद्ध दर्पण में शरीर का प्रतिबिम्ब नहीं दीखता उसी प्रकार अशुद्ध अन्तःकरण में आत्मदर्शन भी नहीं होता।

सभापति नजर नहीं आ रहा !

गुरुजन भी आत्मप्राप्ति की जिज्ञासा करनेवालों को उनके विशुद्ध चित्त में ही आत्मदर्शन करा सकते हैं, अशुद्ध चित्त में नहीं। आत्मा कोई अपने से भिन्न वस्तु नहीं है। आत्मा तो अपना निजी-पन है। पर हमें दर्शन अज्ञान के कारण नहीं हो रहा है। बुद्धि से अज्ञान के मल को हटाने की देर मात्र है। अवश्य दर्शन हो जायेंगे। क्योंकि वह तो चौबीसो घंटे दर्शन दे ही रहा है। वही इंद्रिय, मन और बुद्धि आदि की सभा का सभापति है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हम सभा को तो देख रहे हैं किन्तु हमें सभापति नजर नहीं आ रहा है। हमारी दृष्टि सभापति पर नहीं

बल्कि सभा में बैठे हुए सभ्यों पर है, जो हमारी दृष्टि को आकर्षित कर रहे हैं। इसलिए जो सभापति हमारे सामने बैठा है उसे हम नहीं देख पाते। किसी पर के दर्शन करने हों तो उसमें हमारी पराधीनता है। किन्तु अपने दर्शन में पराधीनता किस बात की? किसी ग्राम में जाना हो तो प्रोग्राम बनाने की आवश्यकता है। किन्तु जब अपने ही धाम में रहना है तो प्रोग्राम की भी क्या आवश्यकता है?

थाली में पानी अगर गंदला होगा, तो उसके अन्दर चंद्रमा का अक्स भी गंदला ही दीखेगा, या फिर दीखेगा ही नहीं। थाली का पानी जब हिलेगा तो चंद्रमा भी हिलता हुआ-सा ही वहाँ नजर आयेगा। इसी प्रकार जब हमारा अंतःकरण दूषित होगा तो हमें सर्वत्र दोष ही दीखेंगे। हमारा अंतःकरण विक्षिप्त होगा तो हम सुखस्वरूप होते हुए भी दुःख का ही अनुभव करेंगे। अतः थाली के विशुद्ध पानी के समान हमारे अंतःकरण में भी पूरी विशुद्धता चाहिये। इसी के लिए निदिध्यासन, मनन और श्रवण तथा कर्म, भक्ति आदि हैं। चित्त की शुद्धि सर्वत्र अपेक्षित है। जहाँ जितनी चित्तशुद्धि होगी वहाँ उतना ही निर्विघ्न साक्षात्कार होगा। अतएव पूर्ण स्वात्मदर्शन के लिये चरम कोटि की शुद्धि अपेक्षित है। इसी कारण साधन अपनाये जाते हैं।

आत्म-ज्योति

ज्ञान-प्रकाश से अज्ञानता का अंधकार दूर होता है। हम ज्ञान स्वरूप तो हैं ही, किन्तु हमें स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण हम अंधकार में ठोकरें खा रहे हैं। वास्तव में अंधकार नाम की कोई वस्तु नहीं है। अंधकार तो हमारा अपना ही बनाया हुआ है। जिस प्रकार एक बालक अपने ही बनाए हुए मानसिक भूत से डरता है ठीक इसी प्रकार अपने ही बनाए हुए अज्ञानरूपी अंधकार में हम भी भयभीत होते हैं।

मन के पीछे आत्मज्योति

बाहर की ज्योति हमें देखने के लिए उकसाती है किन्तु देखने के लिए तो आत्मज्योति ही उपयुक्त है, जिसका कभी बाध नहीं होता। आत्मज्योति अपनी ही निजी ज्योति है, किसी और की नहीं। बाहर की अन्य ज्योतियों का आधार भी आत्मज्योति ही है। मन का चलना, रुकना, विचलित

होना, शांत होना और इच्छा करना आदि सब इसी से होते हैं। इंद्रियों के व्यापार तथा उनका ज्ञान भी आत्मज्योति से ही होता है। इंद्रियों के पीछे मन है। यदि कहीं इंद्रियों के पीछे मन न हो तो इंद्रियों का व्यापार होते हुए भी कुछ पता नहीं चल सकता। उदाहरण के लिये हम किसी प्रवचन में बैठे हुए हों और कर्णेन्द्रिय से प्रवचन सुन रहे हों किन्तु यदि हमारा मन किसी और तरफ चला जाये तो सुनी हुई बात भी अनसुनी हो जाती है। मन के पीछे बुद्धिनिहित आत्मज्योति है। अगर वह न हो तो मन भी किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकता। मन स्वभाव से ही जड़ है। उसके अंदर संकल्पशक्ति आत्मज्योति से ही उत्पन्न होती है। आत्म-ज्ञान भी अपनी आत्मा की महत्ता की पहचान पर निर्भर होता है, जिसके होने से सबका होना है—जिसके प्रकाश में इंद्रियां, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने व्यापार करते हैं—जिनके न होने से अंदर बिल्कुल अंधेरा हो जाता है या कहें तो कुछ भी नहीं रहता। शरीर की इंद्रियां, बुद्धि, मन आदि सभी आत्मज्योति पर आश्रित हैं। आत्मज्योति ही इन सब का आधार है। उसी की अव्यक्तता के कारण सबको प्रेरणा मिलती है। यह आत्मज्योति स्वतंत्र है, पूर्ण है, अखंड है।

मनुष्य का अपना अस्तित्व अंतर की अव्यक्त आत्मज्योति पर ही निर्भर है। बाहर की ज्योतियां कभी रहती हैं कभी नहीं भी रहती हैं। जैसे, सूर्य कभी चढ़ता है, कभी ढलता है। दीपक भी जलता-बुझता है। चंद्रमा उगता-डूबता है, किन्तु आत्मज्योति का तो नित्य, निरंतर, अविरल, अलुप्त एक-सा प्रकाश रहता है।

कुछ न रहने का पता

राज-दरबार में कोई नर्तकी नाच रही हो। वहां विभिन्न दर-

बारीगण बैठे हुए उस नाच को देख रहे हों तो वे सब जलते हुए दीपक में ही प्रकाशमान होते हैं। दीपक वहां नर्तकी एवं दरबारी दोनों के होने को प्रकाशता है। अगर एक-एक करके राजा, नर्तकी और दरबारी वहां से चले भी जायें तब भी दीपक प्रकाशता है तथा उनके न होने को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार आत्मज्योति जाग्रत में इंद्रियों द्वारा किए हुए व्यापार को प्रकाशती है। स्वप्न में जब कि ये इंद्रियां हृदय में एकत्रित हो जाती हैं तो वही स्वयंज्योति इन्हें प्रकाशती है। मन जब संकल्प-विकल्प करता है, तो भी उसे प्रकाशती है और जब मन संकल्परहित हो जाता है, तो भी आत्मज्योति वहां रहती है, जिसमें मन के संकल्प का अभाव भी प्रतीत होता है, जैसा कि सुषुप्ति में। किंतु वहां पर कोई है जो सबेरे उठकर सुषुप्ति के अनुभव की चर्चा करता है कि 'मैं ऐसा सुख से सोया कि मुझे कुछ भी पता न रहा।' इस कुछ न रहने का पता रखने वाला भी कोई था और वह हमारी आत्मज्योति ही है।

परम ज्योति से ज्योतिर बाह्य ज्योतियां केवल इंद्रियों को ही उभारती हैं, किंतु वे देखती नहीं। आत्मज्योति में तो उभारने के अलावा देखना भी है। बाहरी ज्योतियां अपूर्ण व तुच्छ एवं पराश्रित हैं, किन्तु आत्मज्योति पूर्ण सर्वस्वतंत्र ज्योति है। सूर्य, चंद्र और दीपक केवल नेत्र में दृश्य के दर्शाने के साधन हैं। द्रष्टा न हो तो बाहरी ज्योति भी दिखाने में असमर्थ हैं। वह किसको दिखाये ?

स्वयं को स्वयं से देखना

आत्मज्योति के अनुभव के लिए साधक को चाहिए कि वह

ज्ञानेन्द्रियों को निष्क्रिय करके अपनी वृत्तियों का साक्षी बनकर भीतर ध्यानपूर्वक स्वयं को स्वयं से देखे। जो इन वृत्तियों के उदय और अस्त होने को देखता है, वही सच्चा द्रष्टा है। वही हमारा अपनपा तथा आत्मज्योति है, जिसकी आराधना की ओर सारे शास्त्र इंगित करते हैं।



सबका प्रेरक आत्मा

एक ही आत्मा सबको प्रकाशित और प्रेरित कर रही है। उसी के प्रकाश से सभी मनुष्य सोच और समझ रहे हैं एवं अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। मिल मजदूर और किसान में भी वही आत्मा प्रकाशित हो रही है जो कि एक मंत्री के अन्दर। विभिन्न मनुष्य में आत्मा भिन्न-भिन्न नहीं होती, उनके अंतःकरण भिन्न भिन्न होते हैं। सर्वव्यापक आत्मा मनुष्य में ही क्यों, कहीं भी भिन्न नहीं हो सकती। जैसे भिन्न-भिन्न घरों में लगे हुए विजली के बल्बों में एक ही पावर हाउस से करेण्ट आ रहा है। वे भिन्न-भिन्न घरों में लगे हुए तथा प्रकाश दे रहे हैं। न्यूनाधिक रूप में प्रकाश देने वाले बल्ब जो न्यूनाधिक प्रकाश देते हैं उसका कारण यह नहीं कि भेद करेण्ट में है। भेद तो बल्ब के पावर में है। इसी प्रकार अंतःकरणों के भेद हैं, जिनके अनुसार ही उन्हें आत्म-प्रकाश मिलता है।

अंतःकरण के चार विभाग

दार्शनिकों ने मनुष्य के अंतःकरण को अंतःकरण की क्रियाओं

के भेद से चार विभाग में विभाजित किया है। अंतःकरण जब संकल्प-विकल्प करता है तो मन कहलाता है। निश्चय करता है तो वही बुद्धि रूप होता है, आत्मा की चेतनता से चैतन्य हुआ लगता है। सब संस्कारों को धारण करता है, तो चित्त कहलाता है। यही अंतःकरण जब किये हुए कर्मों अथवा व्यक्तित्व पर अभिमान करता है तो अहंकार कहलाता है। असल में अंतःकरण एक ही है। उनकी परिस्थिति-भेद के कारण शास्त्र में उसके भेद कहे गये हैं। किसी का अंतःकरण शुद्ध है और किसी का अंतःकरण मलिन है। मलिन अंतःकरण में आत्मा का ज्ञान-रूप-प्रकाश कम विकसित होता है, क्योंकि मल उसके प्रकाश को रोक लेता है। जैसे किसी बिजली के बल्ब पर काले रंग का कागज चढ़ जाने से उसका प्रकाश अंदर होते हुए भी कागज की कालिमा के कारण बाहर विकसित नहीं हो पाता, इसी प्रकार मनुष्य के दूषित अंतःकरण में आत्मप्रकाश विकसित नहीं हो पाता। किन्तु प्रकाशशील आत्मा का प्रकाश सर्वत्र समान रहता है। वह मन की शुद्धता के अनुसार हर जगह प्रकाशता भी है।

संत बिना किसी भेद-भाव के सभी को अपनी आत्मा करके देखते हैं। इसी से वे संसार में सबसे प्रेम करते हैं। उनको सभी अपने ही नजर आते हैं। वे सर्वात्म तथा सबके प्रेमी होते हैं। जहां प्रेम होता है, वहीं प्रसन्नता होती है, वहीं ईश्वर का निवास होता है। जहां (मैं-तू) का भेद-भाव होता है वहां मनुष्य खिन्नता को प्राप्त होता है। अतः सर्वत्र सब का प्रेरक आत्मा को समझकर, सबको अपनी ही आत्मा मान सबसे प्रेम करना चाहिये।

जीवन - यात्रा

मानव के अदृष्ट के अनुसार मानव को आत्मीय प्रेरणा मिलती है। इसी प्रेरणा के अनुसार मानव की जीवन-यात्रा चला करती है। इसी से प्रेम मिलता है। भगवान की प्रेरणा सर्वत्र मुख्य है। यही समदर्शिता की जड़ है। जिन्हें यह प्राप्त हो गयी है वे मुझमें, तुझमें, सबमें सदा परमात्मा की झांकी करते हैं। सर्वत्र सर्वेश की झांकी मिल जाना सबको प्रेमी बना देता है।



यह हमारी आत्मा नहीं

अपना परमानंद केवल नित्यानंद स्वरूप है। आत्मा परोक्ष नहीं अपरोक्ष है, साक्षात् अपरोक्ष। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, अर्धसुषुप्ति और समाधि—इन पांचों अवस्थाओं में से किसी अवस्था में एवं भूत, वर्तमान और भविष्य में कभी इसका अभाव नहीं। जो अपने से कभी जुदा न हो, वही खुदा है। ऐसी अपनी आत्मा ही है। जो अपने से जुदा हो जाय वह आत्मा नहीं हो सकता। यह हमारी आत्मा नहीं

शरीर मरण काल में हमसे जुदा हो जाता है, अतः यह हमारी आत्मा नहीं। इंद्रियां सिर्फ जाग्रत और स्वप्न में काम करती हैं, सुषुप्ति में नहीं। अर्थात्, वह भी हमारी आत्मा नहीं। मन, बुद्धि सुषुप्ति में नहीं रहतीं इसलिए वे भी हमारी आत्मा नहीं हो सकतीं। जो शेष रह जाता है, जिसको अलग करने का प्रयत्न करने पर भी अलग नहीं किया जा सकता वह है हमारी आत्मा, जो कि हमारा ही निजीपन है। सारे आनंद इसी में है। इसीसे सारी रौनकें भी हैं। हमें आनंदित करने के लिए केवल शांति चाहिये। हम निजानंद शांति में ही ले सकते हैं अन्यथा कभी नहीं।

स्रोत से मिलन

सागर का जल भाप के रूप में उड़ कर क्रमशः बादल बनता है और आकाश में छा जाता है। फिर वर्षा द्वारा वह वन-पर्वतों पर गिरता है। वहाँ से वेगपूर्वक नीचे की ओर बहता नदी-नालों का रूप धारण कर बड़े-बड़े मैदानों में से गुजरता हुआ अन्ततः अपने उद्गम सागर में ही स्वयं जा मिलता है। इसी प्रकार जीव भी अन्त में अपने उद्गम स्थान परमात्मा में ही जा मिलता है।

परजन्य जथारथ ह्वं दरसौ

ग्रीष्मकाल में जब तीव्र गर्मी पड़ती है, तो गरमी से समुद्र का जल भाप बनकर ऊपर को उठता है, धीरे-धीरे बादल का रूप धारण करता है, फिर समय पर पहाड़ों से टकराकर सन्तप्त भूमि को हरा-भरा कर देता है। इसी प्रकार महान् पुरुष शास्त्रों का सार निकालकर जनता को देते हैं, जिससे जनता के सन्तप्त एवं

दुःख-क्लेश भरे हृदयों को आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है ।

समुद्र का जल खारा होता है, परन्तु जब वही जल बादलों के द्वारा भूमि पर गिरता है तो मीठा हो जाता है । इसी प्रकार शास्त्रों में बहुत सी परस्पर विरोधी-सी और दुष्कर बातें लिखी हुई हैं, जिनमें साधारण मनुष्य के उलझ जाने की संभावना बनी रहती है । लेकिन महान् पुरुष परस्पर विरोधाभासों को साफ कर, उस परम विद्या को सरल बना, लोगों की समझ में आ जानेवाली युक्तियों के द्वारा उसी कैवल्यदायिनी परमविद्या-रूपी सुधा का सत्संग द्वारा पान कराते हैं ।

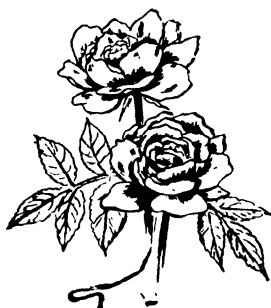
तीव्र संवेगी साधक

जैसे नदी-नाले पहाड़ों की छाती को चीरते, रास्तों के सभी विघ्न-बाधाओं से टकराते अपने स्रोत समुद्र की ओर निरन्तर चलते रहते हैं, इसी प्रकार तीव्र संवेगी साधक तीव्र जिज्ञासा रखते हुए, विघ्न-बाधाओं का सामना करते अपने लक्ष्य की ओर मदा अग्रसर होते हुए अंत में उसे अवश्य प्राप्त होते हैं ।

जानत तुमहि तुमहि ह्वै जाई

जब गंगा गंगोत्री से चलती है तो एक छोटी-सी धारा के रूप में ही चलती है, किन्तु जैसे-जैसे वही गंगा आगे बढ़ती जाती है तो उसकी विशालता भी बढ़ती जाती है । अन्त में वही गंगा, सागर के पास जाकर सागर के रूप में परिणत हो जाती है । वहाँ उसका कोई अलग अस्तित्व ही नहीं रहता । इसी प्रकार साधक जैसे-जैसे अपनी साधना में आगे बढ़ता जाता है, उसकी विशालता भी बढ़ती जाती है । अन्त में वह व्यापकता को अपना कर स्वयं ब्रह्म स्वरूप

में निखर आता है। ब्रह्म स्वरूप तो हर एक जीव स्वतः है ही, किन्तु उसे अपने स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण वह अज्ञानी कहलाता है। जब वह अपने को जान जाता है, तो उसे पता चलता है कि जिसे मैं जानना चाहता था वही मैं हूँ।



ज्योतियों की ज्योति

स्वयंप्रकाश आत्मा ही अपने प्रकाश से सब इंद्रियों, बुद्धि और अंतःकरण को प्रकाशित कर रही है। जिस प्रकार कि एक घड़े में कुछ छिद्र हो और उस घड़े को उलट कर एक जलते हुए दीपक पर ढक दिया जाए तो उस समय जैसे घड़े के छिद्रों से दीपक का प्रकाश बाहर आने लगेगा इसी प्रकार आत्मा का प्रकाश इंद्रियों को प्रकाशित करता हुआ बाहर के विषयों को भी प्रकाशित कर देता है। यहां घड़े के छिद्र इंद्रियों के प्रतीक है। घड़े से ढका जलता हुआ दीपक आत्मा का प्रतीक है, प्रकाश का बाहर आना इंद्रियों की चैतन्यता है। अन्तर केवल इतना है कि घड़े में ढँका यह दीपक बुझ भी सकता है किन्तु आत्मज्योति कभी नहीं बुझती।

बाहर की ज्योति देखने में निमित्त है। इसी प्रकार अन्तर की ज्योति दिखलाने में निमित्त है। वह देखती भी है। अतः दोनों काम करती है। बाहर की ज्योति जड़ है, वह बुझ भी जाती है, किन्तु अन्तर की ज्योति चेतन ज्योति है जो कभी नहीं बुझती।

उसका प्रकाश अलुप्त है। आत्मा का प्रकाश मनुष्य के रोम-रोम में व्याप्त है। चमड़ी के किसी भी हिस्से में एक सुई की नोक भी लगाने से आत्म-प्रकाश सुई की चुभन के अनुभव को सूचित कर देता है। यह प्रकाश जाग्रत में ही नहीं स्वप्न में भी मन द्वारा नया संसार रचकर उसे प्रकाशित कर देखता और दिखाता है।

अपने ही रचे चांद-सूरज

मनुष्य स्वप्न में अपने ही रचे चांद-सूरज खड़े कर लेता है। क्योंकि मनुष्य भी तो ईश्वर से कम नहीं ! मनुष्य भी अपना संसार जिसमें चांद-सूरज, नदी-नाले, पहाड़ आदि सब कुछ हैं, रच ही लेता है। वह बिना लकड़ी, चूना और सीमेंट आदि मसाले के महल खड़े करता है। इन सबके रचने की शक्तियां मनुष्य में उसी आत्मज्योति से प्राप्त हैं, जो कि सतत् प्रकाशस्वरूप है। विडम्बना यह है कि हम सभी कार्य आत्मज्योति से करते हुए भी इस आत्मज्योति को नहीं जानते। यही हमारा सबसे बड़ा भ्रम है। इसी ने हमें संसारी बना रखा है। कोई भी व्यक्ति भ्रम की निवृत्ति होते ही स्वयं ईश्वरत्व का अनुभव करता है। भ्रम निवृत्ति के लिए ही सारे शास्त्र और सारे प्रयत्न हैं। वेदों ने आत्मा को ज्योतियों की भी ज्योति कहा है। इसी ज्योति का पूर्ण रूप से साक्षात्कार हमारा लक्ष्य है।

